9147

जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 2 • फरवरी, 2002

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

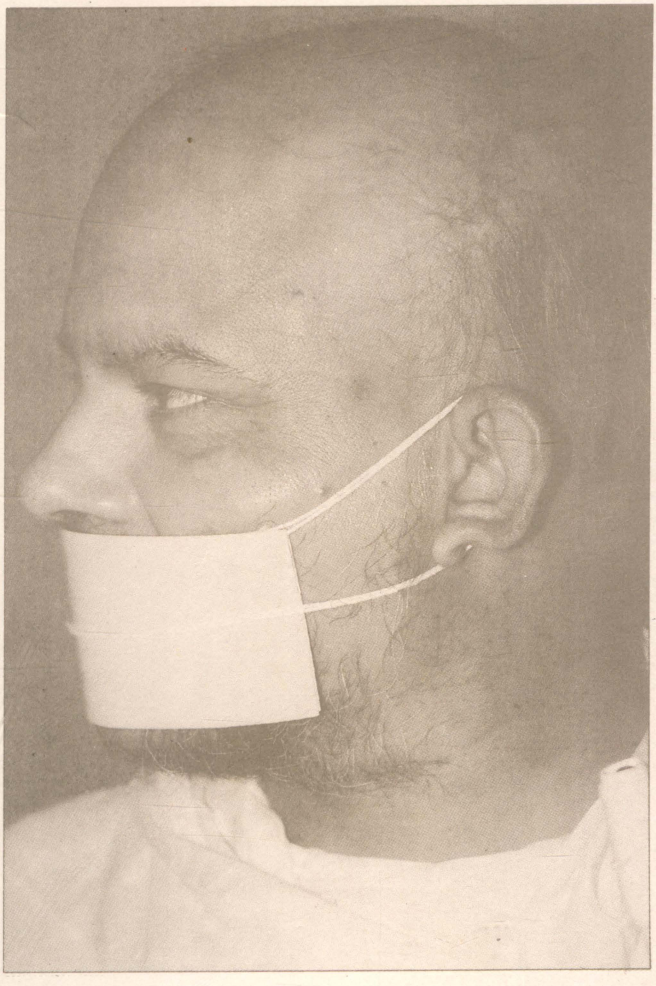

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

फरवरी, 2002 • वर्ष 50 • **स्वर्ण जयंती वर्ष** • अंक 2 • रु. 15.00

विमर्श

9
श्यामाचरण दुबे
भारतीयता की तलाश

15
नन्दकिशोर आचार्य
वैज्ञानिकता का आतंक

18
प्रो. रामजीसिंह
अहिंसा की विसंगतियां

•
आवरण
अडिग/खेराज

अनुभूति

25
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मर्यादा महोत्सव : अतीत-भविष्य का संगम

28
आचार्यश्री तुलसी
तेरापंथ : आत्माभिमुखता का केंद्र

31
साध्वी कनकश्री
समत्व योग की चिन्मय मूरत

34
रामनरेश सोनी
तब पानी भला क्या करे

39
कहानी
जैनेन्द्रकुमार
क्रांति-कर्म

42
कविता
अशोक वाजपेयी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
मर्यादा की जिजीविषा

शीलन

45
मुनि राजेन्द्रकुमार
महानता का दर्शन

47
साध्वी जयमाला
हिंसा : कौन है उत्तरदाई

49
बालकथा
सत्येन्द्र शरत्
बुद्धि और विवेक

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

यह बड़ी भारी गलती होगी अगर हम आध्यात्मिकता और भौतिकता, धर्म और राजनीति के जिस प्रसंग को गांधीजी ने छेड़ा था, उसको छोड़ दें। हो सकता है कि मेरे जैसे आदमी के लिए या किसी एक के लिए यह काम बड़ा भारी हो, क्योंकि दुनिया में, कम से कम देखने में, दो नदियां अलग-अलग बही हैं। दरअसल देखा जाए तो धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालिक धर्म है। यह बढ़िया धर्म और बढ़िया राजनीति की परिभाषा है। घटिया धर्म और घटिया राजनीति की नहीं। विकृत होने पर तो न जाने क्या-क्या हो जाया करता है। एक तो जो खेत-कारखानों में कोशिश होगी और दूसरे जो दिमाग की कोशिश होगी और न जाने कितनी कोशिशों के बाद इस परिभाषा के अंग-प्रत्यंग की जितनी तफसीलें हैं, उनको निकालना पड़ेगा। ये सब चीजें तो बहुत बरसों के बाद तफसील में साफ हुआ करती हैं। लेकिन इतना साफ है कि इस परिभाषा के बाद धर्म का खास काम हो जाता है, हो क्या जाता है, है ही, कि धर्म है अच्छाई को करना और अच्छाई की तारीफ करना और राजनीति है बुराई से लड़ना और बुराई की निंदा करना। एक ही चीज के दो पहलू हैं। बहुत आलस में और जल्दी में देखने लगेंगे तो झट से मुंह से निकल जाएगा कि दोनों में फर्क तो बहुत ज्यादा है। बुराई से लड़ना और अच्छाई को करना इसमें तो इतना फर्क है। फिर दोनों ने एक-दूसरे का पल्ला छोड़ दिया और इसीलिए धर्म निष्प्राण हो जाता है और राजनीति झगड़ालू और कलही हो जाती है। आज सारे संसार में राजनीति कलही हो रही है और धर्म निष्प्राण हो गया है। जो अच्छा धर्म और अच्छी राजनीति है, उसका स्वरूप विकृत हो चुका है। फिर भी क्योंकि आज दुनिया में एक खराबी है, इसलिए इस प्रसंग को छोड़ दें, यह अच्छा नहीं।

—डा. राममनोहर लोहिया

दीक्षा लेने का मुख्य हेतु वैराग्य है, किंतु कोरे वैराग्य से संयम की साधना नहीं हो सकती। विरक्त आदमी इंद्रिय और मन का संयम कर सकता है, किंतु संयम की मर्यादा इससे भी आगे है। भगवान ने कहा है—जो जीवों को नहीं जानता, अजीवों को नहीं जानता—वह संयम को कैसे जानेगा? जो जीवों को जानता है, अजीवों को जानता है—वही संयम को जान सकेगा। जीव है, अजीव है, बंधन है—उसके हेतु हैं, मुक्ति है—उसके हेतु हैं। साधक के लिए ये मौलिक तत्त्व हैं। इन्हीं के विस्तार को नव-तत्त्व कहा जाता है।

दीक्षार्थी को नव-तत्त्वों की पूरी जानकारी कराने के बाद दीक्षा दी जाए। इस प्रकार अयोग्य दीक्षा पर कड़ा प्रतिबंध लगाने से अनुशासन की भूमिका सुदृढ़ बनाई जा सकती है।

अनुशासन आत्मशुद्धि के लिए भी आवश्यक होता है और सामुदायिक व्यवस्था के लिए भी। इनमें एक नैश्चयिक पक्ष है और दूसरा व्यावहारिक। मुनि जीवन-भर के लिए पांच महाव्रतों को अंगीकार करता है, यह नैश्चयिक अनुशासन का पक्ष है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

ज्ञान एक गुण है। यह निजगुण है। इसके लिए शिक्षा का सहारा लिया जा सकता है। एक समय था, जब हमारे देश में महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। पता नहीं, यह अधिकार किसने दिया और किसने छीना? पर एक धारणा चल पड़ी, चली ही नहीं, वह प्रभावी हुई, फलस्वरूप कन्याओं की शिक्षा बहुत सीमित रही।

समय बदला, सामाजिक मानदंड बदले। कन्याओं की शिक्षा के लिए अनुकूल वातावरण बना। कन्याएं पढ़ने लगीं। उनके लिए विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक के दरवाजे खुल गए। पर क्या यह शिक्षा उनमें कोई महत्त्वाकांक्षा या आत्मनिर्भरता जगा पाई है? क्या उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कन्याओं या महिलाओं की कोई पहचान बन पाई है? क्या शिक्षा के द्वारा उन्हें कोई विशिष्ट व्यक्तित्व मिला है? क्या शिक्षित और प्रबुद्ध महिलाएं महिलाओं की आवाज बनकर काम कर रही हैं? क्या उन्होंने महिला समाज को उत्पीड़न, दमन और शोषण से मुक्त करने के लिए अभियान चलाया है? यदि इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक आता है तो मानना होगा कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व-निर्माण नहीं है, समाज का विकास नहीं है और कोई रचनात्मक क्रियाशीलता नहीं है।

—आचार्यश्री तुलसी

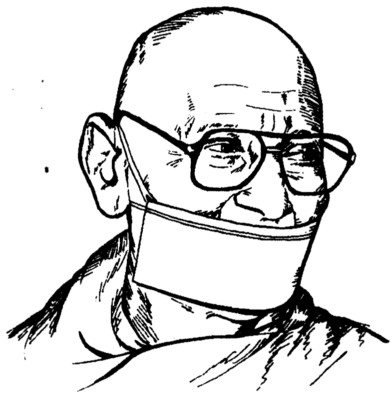

धर्म का अर्थ है मर्यादा को जगाना। धार्मिक व्यक्ति निश्चित ही मर्यादाशील होता है। मर्यादाशील व्यक्ति का धार्मिक होना जरूरी नहीं है। अप्रमाद धर्म है। वह जीवन की सबसे बड़ी मर्यादा है। अप्रमत्त के लिए मर्यादा बनानी नहीं पड़ती। जो अंतरंग में स्वतंत्र होता है, वह परतंत्र नहीं हो सकता, उसे परतंत्र नहीं किया जा सकता। जो अंतरंग में परतंत्र होता है, वही परतंत्र होता है—उसे ही परतंत्र किया जा सकता है।

परतंत्रता अपने ही नियंत्रण से आती है। दूसरा कोई नहीं लाता। जितनी आकांक्षा उतनी परतंत्रता। जितनी अनासक्ति उतनी स्वतंत्रता। स्वतंत्रता को कोई नहीं बांध सकता, अनासक्त को कोई नहीं जकड़ सकता। आज की चिंतनधारा में मर्यादा, जकड़न, परतंत्रता सब एक श्रेणी में आ गए हैं। उन्मुक्तता, स्वतंत्रता, उच्छृंखलता—ये भी एक ही श्रेणी में मान लिए गए हैं। लोग उन्मुक्त होना चाहते हैं। मर्यादाओं के बंधन तोड़कर स्वतंत्र होना एक अर्थ में स्वतंत्रता हो सकती है, पर सामुदायिक जीवन में क्या ऐसा संभव है? मर्यादाओं को तोड़ देना एक बात है और उन्हें अर्थहीन बना देना दूसरी बात है। अप्रमत्त या अनासक्त व्यक्ति मर्यादा को तोड़ता नहीं है, उसे अर्थहीन बनाता है। अपने लिए उसकी उपयोगिता निश्शेष कर देता है। धर्म-संघ की सुदृढ़ता का यही मूल आधार है। आचार्य भिक्षु ने आचार की धातु से मर्यादा का कवच बनाया था, किंतु मर्यादा की धातु से मर्यादा का कवच नहीं बनाया। मर्यादा मर्यादा के लिए नहीं है। यह बैसाखी है जो प्रमाद से लंगड़ाते पैरों को सहारा देने के लिए आवश्यकतानुसार इस्तेमाल की जाती है। मूल प्रयोजन है पैर मजबूत बनें। उन्हें बैसाखी की कम जरूरत रहे।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

मर्यादा की जिजीविषा

'व्यक्ति को चेतना की गहराई में जाने का मार्ग दिखा दो और उसे अपनी गति से चलने दो। गहराई स्वयं मर्यादा है। उसके लिए बाहरी मर्यादा का ताना-बाना बुनना जरूरी नहीं है।'

यह कथन है आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जो सन् 1973 में 'मुनि नथमल' थे, और यह कहते हुए उन्होंने यह भी कहा था—'मर्यादा अर्थहीन नहीं है और वह सार्थक भी नहीं है। उसकी सार्थकता की एक सीमा है और उसकी अर्थहीनता की भी एक सीमा है। जो मनुष्य केवल मर्यादा को जानता है, वह उसकी अर्थहीनता को भी नहीं जान सकता और सार्थकता को भी नहीं जान सकता।'

'मुनि नथमल' के रूप में कहे गए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के इस कथन को यहां उद्धृत करने के दो आशय हैं—एक यह कि मर्यादा के मर्म अथवा मर्यादा के स्वभाव को भली प्रकार समझने के लिए उपरोक्त विचार हमें मदद कर सकते हैं, दूसरा यह कि सन् 1973 के बाद आज सन् 2002 में उनतीस साल का अंतर है और क्या 'काल' के इस अंतराल से 'विचार' की दिशा में भी परिवर्तन हुआ है ? दूसरी बात का उत्तर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ही दे सकते हैं। सन् 1973 में वे एक पंथ के नियंत्रक नहीं थे, आज वे तेरापंथ धर्म संघ के अधिष्ठाता हैं।

इस पंथ के नियंत्रक के रूप में 'मर्यादा' के स्वभाव को वे किस तरह देखते हैं, इसका मोटा अनुमान हमें उनके आचार-विचार, कार्य-विधि और लोक-व्यवहार से लग सकता है। किसी निष्कर्ष पर न पहुंचते हुए भी, यह सब देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सन् 1973 में जो विचार 'मुनि नथमल' के रहे हैं, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक 'पंथ नियंत्रक' के रूप में आज भी बुनियादी तौर पर लगभग वही सोचते हैं।

बात जब 'पंथ' की आ गई है तो एक विचारक का यह कथन विचार शृंखला को खुले तौर पर आगे बढ़ाने के लिए सामने रखना चाहिए। यह कहा गया कि—'संस्था एक आदमी की बढ़ी हुई परछाईं है। परछाईं में जीवन नहीं होता, रंग नहीं होता, स्वतंत्र शक्ति नहीं होती। पंथ भी जड़, विविधताविहीन और अनुगामी प्रकृति का होता है। बुद्ध, शंकर, कबीर और गांधी स्वतंत्र खोज-शक्ति के पुंज थे, किंतु इनकी शक्ति पंथों में विलीन हो गई।'

यहां फिर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ही कथन को प्रस्तुत करना समीचीन होगा। वे कहते हैं—'मर्यादाशील व्यक्ति का धार्मिक होना जरूरी नहीं है।' लेकिन यहीं वे धर्म को भी परिभाषित कर देते हैं, कहते हैं—'अप्रमाद धर्म है। वह जीवन की सबसे बड़ी मर्यादा है। अप्रमत्त के लिए मर्यादा बनानी नहीं पड़ती। जो अंतरंग में स्वतंत्र होता है, वह परतंत्र नहीं हो सकता, उसे परतंत्र नहीं किया जा सकता।'

उपरोक्त कथन से मर्यादा का बुनियादी स्वभाव क्या होता है—यह स्पष्ट हो जाता है। जो प्रमत्त है, उसी के लिए मर्यादा की आवश्यकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस आवश्यकता को इस तरह व्यक्त करते हैं—'अप्रमत्त या अनासक्त व्यक्ति मर्यादा को तोड़ता नहीं है, उसे अर्थहीन बनाता है, अपने लिए उसकी उपयोगिता निश्शेष कर देता है।'

जिस 'पंथ' या 'धर्मसंघ' में मर्यादा का यह मर्म समझा गया हो, जहां विचारों की जड़ता के लिए किसी प्रकार की गुंजाइश न हो, वहां संस्था या कि 'पंथ' परछाईं नहीं होते, वे सामुदायिक जीवन जीने के तपःस्थल होते हैं और वहां अप्रमत्त व अनासक्त होकर सहजीवी जीवन जीया जा सकता है। और जैसा कि स्वयं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं, उनके लिए मर्यादा अर्थहीन बनती जाती है, उसकी उपयोगिता निश्शेष होती जाती है।

मर्यादा की ऐसी जिजीविषा आज समाज में अत्यल्प नजर आती है। आज स्वतंत्रता और उच्छृंखलता को एक ही श्रेणी में मान लिया गया है। इसीलिए सामुदायिक जीवन की समरसता टूटी है और स्वतंत्र व उन्मुक्त जीवन जीने वालों को भी उसका खमियाजा भुगतना पड़ता है, एक तरह से उनकी स्वतंत्रता ही नष्ट होती प्रतीत होती है। दूसरी ओर वे लोग, जो एकांगी होकर निजी हित-स्वार्थों में लिप्त हैं और जिन्हें दूसरों की स्वतंत्रता के हनन का कोई रंज नहीं है—उनके लिए कुछ भी करना बेझिझक मुनासिब है। समाज में व्याप्त विषमता का एक बड़ा कारण यही है।

मर्यादा के विभिन्न पहलुओं को भी हमें ध्यानपूर्वक समझने की जरूरत है। व्यक्तिगत स्तर पर मर्यादा का रूप क्या होता है और सामूहिक स्तर पर मर्यादा के तात्पर्य क्या होते हैं—यह तो देखना ही चाहिए, पर यह भी देखना चाहिए कि चेतना के स्तर और उसकी गहराई तक जब तक न पहुंचा जाए तब तक क्या किया जाना चाहिए। स्वतंत्रता को आदर्श स्थिति मानते हुए इसके मूल्य को न समझने वालों को यदि कुछ भी करने की छूट रहेगी तो वे दूसरों की स्वतंत्रता का हनन ही करेंगे।

आज अनेक स्तरों पर यह देखने को मिलता है—जो पर्यावरण असंतुलन बढ़ रहा है, वह मर्यादाहीनता की ही परिणति है। राजनीतिक-आर्थिक सत्ता के बल पर जो मनमानापन हावी हो रहा है, उसका कारण भी क्या मर्यादाहीनता ही नहीं है? जो विषमता और विसंगति आज अजगर की तरह व्याप्त है, वह मर्यादाहीनता का ही प्रतिफल है।

अतः आज 'मर्यादा' की बात पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक है। मर्यादा के प्रति जन-जन में जिजीविषा जगे—ऐसे प्रयास स्वाभाविक रूप से समाज में व्यापक स्तर पर कैसे हों—इस पर विचार जरूरी है। निश्चय ही ऐसी मर्यादा न बोझ हो सकती है, न जकड़न। उसमें ऊबाऊपन भी कैसे हो सकता है और कैसे ऐसी मर्यादा किसी के लिए झुंझलाहट-भरी हो सकती है—सहज मर्यादा के लिए इन सभी बातों का ध्यान रखा जाना जरूरी है।

हमारे सामने एक उदाहरण विद्यमान है। तेरापंथ धर्मसंघ का इतिहास 244-45 वर्ष का है और उसकी मर्यादा की परंपरा भी 138 वर्ष की है। एक 'पंथ' इन मर्यादाओं से यदि 'जड़' हो गया होता तो इतनी दीर्घ वय उसे न मिली होती। मर्यादाएं यदि उसके लिए बोझ हो गई होतीं तो अपने ही बोझ से इसका ढांचा चरमरा गया होता। 'तेरापंथ' वर्तमान काल में यदि गतिशील और जीवंत धर्मसंघ है तो इसीलिए कि वह अपनी मर्यादाओं से संपोषित है, उन्हीं से परिपुष्ट हो रहा है। निश्चय ही तेरापंथ के नियंत्रक इसके शक्ति-पुंज रहे हैं, पर उन्हीं की बढ़ी हुई परछाईं में 'तेरापंथ' बद्ध नहीं रहा। इन परछाइयों से बाहर इसके खुलेपन ने इसमें सदा ताजा प्राणवायु संचरित की है। इसीलिए तेरापंथ के आचार्यों, संतों और समुदाय की शक्ति 'पंथ' में विलीन न होकर उसे उत्तरोत्तर तेजस्विता देती रही है। 'तेरापंथ' का यह रूप आज सबके सामने है।

'पंथ' की संकीर्णता से सजग रहने की बात सर्वथा सही है, पर किसी अच्छाई को खुली आंख से मात्र इसलिए न देखना कि वह एक 'पंथ' विशेष में है—क्या स्वयं में संकीर्ण दृष्टि नहीं? खुलेपन के संपोषक इस 'संकीर्णता' को छोड़कर नीर-क्षीर करें तो समग्र समाज को नई दृष्टि मिल सकती है, तब मर्यादा की जिजीविषा जगाने के सामूहिक प्रयास भी किए जा सकते हैं। आज इस पर विचार की जरूरत है।

— शुभू पटवा

विमर्श

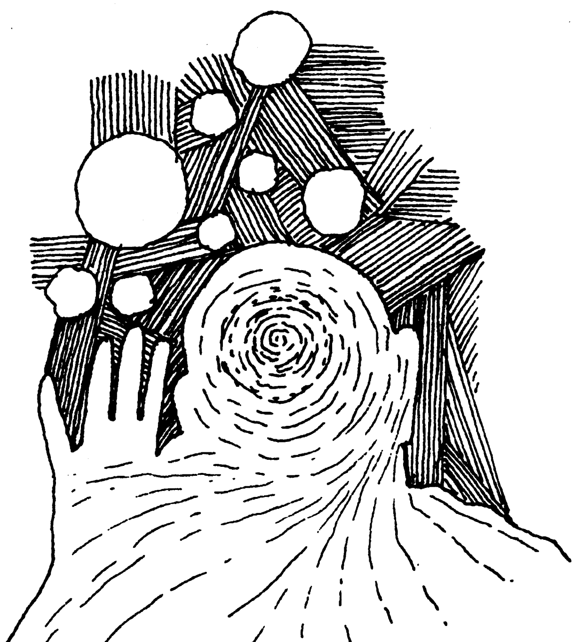

विकास का तत्त्व केवल भौतिक सृष्टि में ही काम नहीं करता, मानसिक और आध्यात्मिक सृष्टि में भी हम विकास का तत्त्व पूरा-पूरा पा सकते हैं। इतना ही नहीं, ईश्वर जब मनुष्य को ज्ञान देता है, प्रेरणा देता है, धर्म-रहस्य प्रकट करता है तब उसमें भी यह विकास का तत्त्व पाया जाता है। धर्म के विधान में समय-समय पर विकास होता पाया जाता है। धर्म-वचन को समझने में भी मनुष्य शक्ति का क्रमशः विकास पाया जाता है। इस विकास को लेकर ही हमने भगवान को 'काल' का नाम दिया है। भगवान काल अपनी शक्ति काली के द्वारा सृष्टि की परंपरा चलाता है। परंपरा, विकास, परिपक्वता, परिवर्तन—ये सारे शब्द कालबोधक हैं। भगवान काल जो कुछ करता है उसी को आजकल के वैज्ञानिक मनीषी विकास कहते हैं। दार्शनिक लोगों ने इसके आगे जाकर उत्पत्ति, विकास, विनाश, पुनरुत्पत्ति, नवसृजन, नवजीवन पर एक साथ विचारकर उसी को कालतत्त्व कहा है।

इस अर्थ में सनातन का अर्थ होता है नित्यनूतन। काल भगवान पुराने रूपों को बदल देता है, उनका विसर्जन करता है, विसर्जन के साथ नवसृजन करता है। काल को बासी रहना पसंद नहीं है। सनातन वही है जो हमेशा ताजा रहता है, अद्यतन होता है। इस नित्यनूतन, अद्यतन तत्त्व को ही सदातन कहा है। सदातन का ही आसान रूप है सनातन।

—काका कालेलकर

अंततः भारतीयता का प्रश्न भावना का प्रश्न है। भावना यदि ज्ञान पर आधारित हो तो वह अधिक टिकाऊ होती है। इस खोज के लिए हमें नचिकेता को अपना उदाहरण बनाना होगा, जिसे ज्ञान के लिए यमराज के पास जाने तक में हिचक नहीं हुई और इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसे रामानुज की भांति बहुजनहिताय बांट देना होगा, किसी भी व्यक्तिगत मोक्ष और स्वर्ग-प्राप्ति के मोह को त्यागकर।

❑ भारतीयता की तलाश

✍ श्यामाचरण दुबे

सभ्यताओं के इतिहास में भारतीय सभ्यता की एक विशेष पहचान और अस्मिता है। संसार में सभ्यता के कई प्राचीन केंद्र रहे हैं, किंतु उनमें से अधिकांश को हम केवल उनके भग्नावशेषों द्वारा ही जानते हैं। भारतीय सभ्यता में एक अविश्रृंखल निरंतरता है। पांच हजार वर्ष पुरानी इस सभ्यता में आज भी अतीत और वर्तमान के बीच की कड़ियां सशक्त हैं। यह कहना तो उचित नहीं होगा कि हर दृष्टि से यह सभ्यता आदर्श थी, क्योंकि इसमें अनेक विसंगतियां और विरोधाभास थे। उदाहरण के लिए, कुछ सशक्त आदिवासी समूहों को छोड़कर शेष को वर्ण-व्यवस्था में बहुत नीचा स्थान मिला और जो इस व्यवस्था के अंग नहीं बने, उन्हें धीरे-धीरे बीहड़ वनों और एकाकी पर्वतमालाओं की ओर धकेला गया। अस्पृश्यता हमारे समाज का कलंक थी और आज भी है। धर्मग्रंथों के कुछ श्लोकों में भले ही हमने स्त्री को शीर्ष स्थान दिया हो, किंतु व्यवहार में वह दूसरे दर्जे की नागरिक ही रही। इन दोषों के बावजूद भारतीय सभ्यता केवल पुरातत्त्व की सामग्री न रहकर आज भी जीवित है। उसकी अदम्य जीवन-शक्ति का रहस्य क्या है?

> **'इंडियन विलेज' (1955) भारतीय समाज के अध्ययन के क्षेत्र में मील का पत्थर मानी जाने वाली पुस्तक के यशस्वी लेखक स्व. श्यामाचरण दुबे प्रख्यात अंतरराष्ट्रीय समाज विज्ञानी माने जाते रहे हैं। देश-विदेश के विश्वविद्यालयों में मानव विज्ञान और समाज विज्ञान का अध्यापन कर चुके प्रो. दुबे ने समाज शास्त्र के विभिन्न पक्षों पर अनेकशः ग्रंथ लिखे हैं जिनमें भारतीय विविधता और एकता के विकास के जटिल सवालों के उत्तर तलाशे जा सकते हैं।**

भारतीय संस्कृति के बारे में हम जब भी सोचते हैं, हमारा ध्यान उसकी आध्यात्मिक प्रकृति पर केंद्रित रहता है। यह रूढ़ि कई दृष्टियों से बड़ी भ्रामक है। मानव जीवन के चार प्रमुख लक्ष्यों—पुरुषार्थों में अर्थ और काम का उतना ही महत्त्व है जितना धर्म और मोक्ष का। प्राचीन ग्रंथों में यदि धर्मशास्त्र महत्त्वपूर्ण है तो अर्थशास्त्र और कामशास्त्र भी उपेक्षणीय नहीं हैं। सामान्य धर्म की परिकल्पना को भी अध्यात्मोन्मुख नहीं माना जा सकता।

अलौकिक पक्षों पर चिंतन करते हुए भी भारत में भौतिक संस्कृति का अभूतपूर्व विकास हुआ था। जहां आध्यात्मिक संस्कृति ने कई बार दिशा बदली, वहां भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में आश्चर्यजनक क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। समसामयिक भारत की मृद्-कलाओं को सिंधु घाटी सभ्यता के उत्पादनों से जोड़ा जा सकता है। आदिम समूहों ने लोहे की धातु को शुद्ध कर अस्त्र-शस्त्र बनाना आरंभ कर दिया था, परंतु लोहे के फलवाले जैसे हल का प्रयोग संभवतः मौर्यकाल में आरंभ हुआ। उसका व्यापक पैमाने पर प्रयोग आज भी हो रहा है। भारत को जोड़ने वाले तत्त्वों की खोज करते समय हमें भौतिक संस्कृति के उपादानों पर भी गंभीर रूप से विचार करना चाहिए। निर्मलकुमार बोस ने इस क्षेत्र में एक उपयोगी सर्वेक्षण कराया था। अपनी सीमाओं के बावजूद इस अध्ययन के परिणाम उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय और राजकीय सीमाएं भले ही अलग रही हों, भारत का सांस्कृतिक-धार्मिक भूगोल एक भारतीयता की ओर ही इशारा करता है। भारत की भूमि, पर्वतों और नदियों के उल्लेख हमें बार-बार, धार्मिक और साहित्यिक

ग्रंथों में मिलते हैं। पवित्र तीर्थों का विवरण भी देश-व्यापी है। इनसे यदि भारतीयता प्रमाणित नहीं होती तो कम-से-कम उसकी भाव-भूमि का आभास तो होता ही है।

राबर्ट रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर ने 'महान' और 'लघु' परंपराओं और उनके अंतरावलंबन की बात की है। मैं उन्हें 'शास्त्रीय' और 'लौकिक' परंपराएं कहना अधिक पसंद करता हूं। महान परंपरा के तत्त्व हम शास्त्रों में खोजते हैं और उसका एक आदर्श प्रतिरूप निर्मित करते हैं। इस संबंध में प्रश्न उठता है कि प्राचीन समय में या आज कितने समूह इस परंपरा के जीवित प्रतिनिधि थे? इसके विपरीत किसी एक लघु परंपरा की बात करना भी व्यर्थ है। अनेक लौकिक परंपराएं थीं—जातीय, स्थानीय और क्षेत्रीय। स्थानीय परंपराएं क्षेत्रीय परंपराओं से सावयवी रूप से जुड़ी थीं। क्षेत्रीय संस्कृतियों का अपना सबल व्यक्तित्व था। इन संस्कृतियों ने अपने-अपने तरीकों से शास्त्रीय परंपराओं से संपर्क-सूत्र बनाए। लौकिक परंपराएं हमेशा ज्यादा ताकतवर रहीं। महान परंपरा का कभी आग्रह नहीं रहा कि वह लौकिक परंपराओं को निगल जाए। पितृप्रधान देश में, मातृप्रधान समुदायों का अस्तित्व बना रहा। बहुपति प्रथा भी समाज के कई भागों में मान्य रही। कई समुदायों ने ब्राह्मण से पूजा कराई, परंतु कई समूहों ने ब्राह्मण के पौरोहित्य को नहीं स्वीकारा। धर्मशास्त्रों ने भी लोकाचार की स्वायत्तता स्वीकार की। शास्त्रीय और लौकिक परंपराओं में समझौते हुए और आदान-प्रदान भी होता रहा। भारतीय संस्कृति विश्रृंखलित हो जाती, यदि वह लौकिक संस्कृतियों की स्वतंत्र छवि को नष्ट करने का दुराग्रह करती। मेरी दृष्टि में शास्त्रीय परंपराओं और स्थानीय, जातीय और क्षेत्रीय परंपराओं का सहअस्तित्व भारतीय समाज को विश्रृंखलन से बचाए रखने में सहायक हुआ है।

सनातन की खोज भारतीय मनीषा से जुड़ी है, किंतु धर्म के किसी रूप को हमारी सभ्यता ने परीक्षा की कसौटी से ऊपर नहीं माना। कट्टरवाद भारत की धार्मिक परंपराओं का मूल स्वर नहीं रहा, यद्यपि इतिहास में उन मोड़ों के भी हजारों उल्लेख हैं जो हिंसात्मक धर्मांधता से प्रेरित थे। भारतीय संस्कृति को बचाए रखने में उसके प्रश्न, शंका, असहमति, विरोध, सुधार और विद्रोह की परंपराओं का बड़ा हाथ रहा है। भारत के अनेक संत कवियों ने सामाजिक विक्षोभ की अभिव्यक्ति और अन्याय से लड़ने का एक नया मुहावरा विकसित किया। परंपरा को प्रकट रूप से बिना अस्वीकार किए उन्होंने पैने प्रश्न पूछे, गंभीर शंकाएं व्यक्त कीं, अपनी असहमति को शब्द दिए, विरोध को वाणी दी, सुधार की योजनाएं सुझाईं और आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह का समर्थन किया। इन परंपराओं ने एक ओर सामाजिक तनावों को दूर या कम किया तो दूसरी ओर सामाजिक सामंजस्य उत्पन्न करने में भी सहायता दी।

भारतीय सभ्यता में बाह्य तत्त्वों को आत्मसात् करने की अपूर्व क्षमता थी। ऐसे तत्त्वों का भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में अनुकूलन भी हुआ, समाकलन भी। इस प्रकृति के अभाव में यह देश खंडित ही रहता। आद्य कबीलों ने भारतीय सभ्यता को पहले कुछ दिया, बाद में बहुत कुछ लिया। उनमें से कुछ उभरते समाज में मिल-जुल गए, कुछ ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखा। द्रविड़ भाषाई समूहों ने समाज और सभ्यता के विकास की धारा को एक नया मोड़ दिया। जैसा पहले कहा जा चुका है, सचेत अध्येताओं की दृष्टि में सिंधु घाटी सभ्यता उनकी देन थी। फिर आर्य भाषा बोलने वाले कबीले आए और उन्होंने सभ्यता के विकास को नई दिशा और गति दी। तीनों के आंशिक संविलयन से समाज पुष्ट हुआ। यह प्रक्रिया चलती रही। यूनानी आए, शक आए, कुषाण आए और अपनी-अपनी भेंट देकर भारतीय समाज के अंग बन गए।

इसके बाद की सांस्कृतिक-सामाजिक धारा का रुख कुछ बदला, पर सामाजिक सांस्कृतिक विकास का मार्ग पूरी तरह अवरुद्ध नहीं हुआ। कई दिशाओं और देशों से मुसलमान आए और अपने साथ अपना धर्म और अपनी विशिष्ट संस्कृतियां लाए। धर्म का प्रश्न विवादास्पद है, क्योंकि भारतीय इस्लाम में यदि एक धारा कट्टरवाद की थी तो दूसरी उदारवाद की। पर यह विवाद के परे है कि इस्लाम का भी भारतीयकरण हुआ। यह कहना गलत होगा कि मुसलमानों ने सिर्फ मंदिर तोड़े और मस्जिदें बनवाईं। बौद्धिक धरातल पर हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों में संवाद हुआ। संस्कृत के समृद्ध साहित्य ने उन्हें प्रभावित किया और वे संस्कृत की समृद्धि में सहायक हुए। दर्शन, ज्योतिष, गणित, स्थापत्य, चिकित्सा आदि के क्षेत्रों में दोनों संस्कृतियों में पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ। खान-पान, वेश-भूषा, शिष्टाचार आदि पर इस्लाम ने अपनी अलग छाप छोड़ी। कट्टर इस्लाम में निषिद्ध चित्रकला और संगीत को भी उन्होंने पुरस्कृत कर प्रोत्साहन दिया। सूफी संतों को भारतीय मुसलमानों और हिंदुओं दोनों ने स्वीकारा और वे आज भी उनके मजारों को पूजते हैं। कुछ हिंदुओं के इस्लाम कुबूल करने के बाद भी उनकी सामाजिक बुनावट में बहुत कम फर्क आया, जातिप्रथा किसी-न-किसी रूप में उनमें बनी रही और कई क्षेत्रों में आज भी बनी है। पश्चिम उत्तरप्रदेश

में आज भी राजपूत और त्यागी मुसलमान अपने-आपका परिचय इसी तरह देते हैं। पंजाब के गांवों में आपको आज भी हिंदू, मुसलमान और सिख जाट मिलेंगे, जो पुराने रक्त और विवाह-संबंधों का अब भी आदर करते हैं। मुसलमानों का एक समूह ऐसा भी है जिसमें व्यक्तियों के मिले-जुले हिंदू-मुसलमान नाम होते हैं। कई समूहों में काजीजी के निकाह पढ़ देने के बाद हिंदू शैली में विवाह की पूरी रस्में होती हैं। उत्तर मध्यप्रदेश में कुंजड़िनें एक सांस में 'राम दुहाई' और 'अल्ला कसम' दोनों कहती हैं। अरबीकरण का अध्याय बहुत नया है। भारत के अधिकांश मुसलमान लंबे समय तक अपनी क्षेत्रीय संस्कृतियों के प्रतिनिधि ही माने जा सकते थे। उनका बहुभाग आज भी बदला नहीं है।

यही कहानी भारत में ईसाई धर्म की है। संत पाल ने दक्षिण में इस धर्म की नींव ईसवी सन् 1852 में रखी थी। वे धर्म की वैचारिक शक्ति लेकर आए थे, उनके पीछे न साम्राज्यवाद की सामरिक ताकत थी, न किसी छद्म व्यावसायिक कंपनी का समर्थन। उल्लेखनीय है कि केरल और तमिलनाडु में पहले ब्राह्मणों के कई परिवारों ने ईसाई धर्म अंगीकार किया। इस धर्म के अनेक प्रचारकों ने भारतीय संन्यासियों की वेशभूषा और धर्मोपदेश के तरीके अपनाए थे। यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों प्रदेशों में ईसाई समुदाय में जातिप्रथा का एक रूप आज भी पाया जाता है और वहां ऊंची जातियों और नीची जातियों के गिरजे अलग-अलग हैं। वैवाहिक संबंधों में भी यह ऊंच-नीच का भेद पाया जाता है। राजा राममोहन राय और 'ब्रह्म समाज' ने ईसाई धर्म से भी प्रेरणा ली थी। साम्राज्यवाद के साथ ईसाई मत का जो रूप आया, उसके पीछे दूसरी ही प्रेरणा और शक्ति थी, इसी कारण उसमें कुछ हास्यास्पद तत्त्व भी आ गए पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इन विसंगतियों का निराकरण हो रहा है।

पारसी थोड़ी संख्या में आए। उनके नेताओं ने आश्वासन दिया था कि वे भारतीय समाज में उसी तरह मिल जाएंगे जैसे दूध में चीनी घुल जाती है। उन्होंने अपना वायदा पूरा किया और शेष समाज ने उनके धर्म और रीति-रिवाजों से छेड़खानी नहीं की।

परिवेश में अनुकूलन, समन्वयन और सांस्कृतिक वैभिन्न्य के सह-अस्तित्व की स्वीकृति की प्रवृत्ति यदि हमारे समाज में न होती तो उसका सामासिक रूप नहीं उभरता। यह प्रक्रिया सरल और संघर्षहीन नहीं थी, फिर भी दूरगामी परिणामों में उसकी विजय होती रही और उसने समाज को विघटन से बचा लिया।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम की भारतीय समाज के भावात्मक समाकलन में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। स्वाधीनता को लक्ष्य बनाकर भारत ने अपने धार्मिक, क्षेत्रीय और जातीय विवादों को अस्थाई तौर पर भुला दिया था। पुराने नायकों की नई छवियां उभारी गई थीं और आंदोलन के नेताओं को राष्ट्रीय नायकों का सम्मान मिला था। राष्ट्रीयता के इस उत्कर्ष में अनुराष्ट्रीयताएं और उप-राष्ट्रीयताएं दब गई थीं। सच तो यह है कि इनका उपयोग भी बड़े कौशल से आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए किया गया था। तात्कालिक उद्देश्यों की प्राप्ति में यह नीति सफल रही, किंतु विराट लक्ष्य की प्राप्ति के बाद ये शक्तियां पुनः उभरीं और आज राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में अवरोधक बन रही हैं। मुस्लिम सांप्रदायिकता राष्ट्रीय उद्देश्यों से अधिक समय तक जुड़ी न रह सकी, जिसके परिणामस्वरूप हमें देश के विभाजन की त्रासदी को भोगना पड़ा। यह एक विडंबना है कि हमें एकीकृत रहने के लिए किसी-न-किसी शत्रु या संकट की आवश्यकता पड़ती है।

भारत में एक नई जन-संस्कृति (मास कल्चर) का विकास हो रहा है, जिसका श्रेय हमें मुख्य रूप से जन-संचार के नए माध्यमों को देना चाहिए। फिल्मी अभिनेता और अभिनेत्रियां भारतीय आकाश पर छाए हुए हैं, लोकप्रियता के उन्होंने नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—देश की प्रत्येक दिशा—में उनके नाम और चेहरे जाने-पहचाने हैं। न कोई उनका धर्म पूछता है, न जाति, न प्रांत। फोक-हीरोज की दूसरी श्रेणी में खेल-कूद की दुनिया के लोग हैं। जो देश को जीत दिलवा दे, उसकी कुछ दिनों तक वाहवाही होती रहती है। राजनीतिज्ञ अपनी छवि उभारने की कला जानते हैं और किसी-न-किसी रूप में उनका उल्लेख होता ही रहता है। इसके बाद आते हैं विचारक, वैज्ञानिक, कलाकार, लेखक, कवि और सामाजिक कार्यकर्ता। जनसंचार के साधन निश्चित रूप से देश को इन सबके प्रचार-प्रसार द्वारा जोड़ते हैं। पर जनसंचार के साधनों के पूर्ण प्रभाव का अध्ययन जरूरी है, क्योंकि वे एक पलायनवादी दृष्टिकोण और उपभोक्ता संस्कृति को भी जन्म दे रहे हैं। मनोरंजन ऐसा न हो जो हमें देश की समसामयिक चुनौतियों से विमुख करे। बहरहाल इतना तो कहा ही जा सकता है कि सपनों का सतरंगी इंद्रधनुष देश को एक प्रकार की एकता दे रहा है, भले ही वह ख़ंडित सामाजिकता का दीर्घकालीन समाधान न हो।

आत्मछवियां और प्रदत्त छवियां पूर्वाग्रह-मुक्त नहीं होतीं। उनका ज्ञान आवश्यक है, पर वह विश्वास का आधार

नहीं बन सकता। भारत और भारतीयता को समझने के लिए हमने जो अधिक गंभीर प्रयत्न किए हैं, उनका विश्लेषण भी आवश्यक है।

एक अरसे तक हम भारत की खोज प्राचीन धर्मग्रंथों में करते रहे। उनमें भारत का एक पक्ष है। विशेषकर पुरातन भारत का। उपलब्धियों के जिन दार्शनिक शिखरों को भारत ने छुआ, उन पर हमें गर्व होना चाहिए। इन ग्रंथों से हमें उदात्त दार्शनिक भाव-भूमि मिली और मिला समाज-व्यवस्था का एक आदर्श प्रारूप। पर क्या यही सच्चा भारत था? इन ग्रंथों की रचना एक विशिष्ट काल के सांस्कृतिक-सामाजिक संदर्भों में हुई थी। केवल उनके अध्ययन से हम भारतीय समाज के इतिहास और उसकी बहुआयामी संस्कृति को नहीं समझ सकते। उनकी रचना के बाद की परंपराओं का अध्ययन भी आवश्यक है। जैन और बौद्ध धर्मग्रंथों का उतना उपयोग नहीं किया गया, जितना अपेक्षित था। अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, करुणा आदि के मार्गदर्शक सिद्धांत हमें मुख्यतः इन स्रोतों से मिले हैं। अनेक संप्रदायों और मतों की भी अवहेलना जाने-अनजाने हो गई है। इस्लाम और ईसाई धर्म का प्रभाव सामान्य भारतीय जीवन पर नगण्य नहीं है। शास्त्रों की कुछ अवधारणाएं—वर्णाश्रम, पुरुषार्थ, ऋण, कर्म—दीर्घजीवी प्रमाणित हुईं, पर यह उल्लेखनीय है कि हमारे शास्त्रकारों ने धर्म को देश, काल और पात्र से जोड़ा था। यह लौकिक परंपराओं और प्रासंगिक आवश्यकताओं की स्वीकृति थी। सामान्य धर्म की अवधारणा तक का परिसीमन देश की विविधता को दृष्टि में रखकर किया गया था।

दूसरी ओर नृतत्त्ववेत्ताओं और समाज-वैज्ञानिकों ने जीए जाने वाले जीवन का निकट से अध्ययन किया। उनके शोध से—जो अधिकांशतः जनजातियों, ग्रामों, जातियों और क्षेत्रों पर किए गए थे—समसामयिक यथार्थ का एक नया आयाम उद्घाटित हुआ। ये अध्ययन आज के भारत के एक प्रतिदर्श के अध्ययन माने जा सकते हैं। आदर्शों से यथार्थ की ओर यह मोड़ भारत को समझने के प्रयत्नों में एक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण घटना थी, किंतु इन अध्ययनों की भी कुछ सीमाएं थीं। समय के फैशन के अनुसार इन अध्ययनों ने जान-बूझकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की अवज्ञा की थी। यह एक बड़ी गलती थी। भारतीय सामाजिक इतिहास की नई विधा इस भूल का परिमार्जन करने का यत्न कर रही है। साथ ही हमने शास्त्रीय, स्थानीय तथा क्षेत्रीय परंपराओं के अंतरावलंबन का अध्ययन उस गहराई में नहीं किया जो भारतीयता की समझ के लिए अपेक्षित था। शास्त्रीय और प्रत्यक्ष अध्ययनों के बीच सेतु-निर्माण आवश्यक है।

इस दिशा में कुछ उल्लेखनीय प्रयास किए गए हैं। राबर्ट रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर द्वारा विकसित 'महान' और 'लघु' परंपराओं और उनके सावयवी संबंधों के सिद्धांत का उल्लेख किया जा चुका है। अध्ययन का यह ढांचा उपयोगी है, पर इसकी भी अपनी सीमाएं हैं। क्या भारत जैसे देश के लिए एक ही महान परंपरा की कल्पना उचित है? या हमारी एक से अधिक महान परंपराएं हैं? क्षेत्रीय व्यक्तित्वों की उपेक्षा भी उचित प्रतीत नहीं होती। अनेक लघु परंपराएं ऐसी भी हैं, जिनका किसी महान परंपरा से सीधा संबंध नहीं है।

इसी ढांचे में हमें मैक्किम मैरियट की 'सार्वभौमीकरण' (युनिवर्सिलाइजेशन) और 'स्थानीकीकरण' (पेरोकियालाइजेशन) की परिकल्पनाओं पर भी विचार करना चाहिए। यह स्पष्ट है कि लघु परंपराओं के कुछ तत्त्व, कालांतर में, महान परंपरा में प्रतिष्ठित होते हैं और महान परंपरा के कुछ भाग लोक-मुहावरे में ढलकर स्थानीय और क्षेत्रीय परंपराओं के अंग बन जाते हैं। कठिनाई यहां भी परिभाषा की है। अभी-अभी मैंने कहा है कि क्षेत्रीय परंपराओं पर भी स्वतंत्र रूप से विचार अपेक्षित है। उनकी उपस्थिति और अस्मिता नगण्य नहीं है। साथ ही पाश्चात्यीकरण, क्रमशः विकसित हो रही राष्ट्रीय धारा और नई जन-संस्कृति (मास कल्चर) के स्वभाव, प्रभाव और प्रचार पर भी विचार आवश्यक है।

श्रीनिवास की संस्कृतकरण की अवधारणा का उल्लेख इस संदर्भ में आवश्यक है। बिना किसी उलझाव के यदि कहें तो संस्कृतकरण की प्रक्रिया वह है जिसके अंतर्गत वर्ण-व्यवस्था में नीचे धरातल की जातियां उच्च वर्णों की जीवनशैली, विश्वास और कर्मकांड अपनाती हैं। यह प्रक्रिया कई समाजों में देखी गई है, कुछ इसके द्वारा ऊंचा स्थान पाने में सफल हुए, अनेक को तीव्र सामाजिक विरोध और दमन सहना पड़ा। यह 'संदर्भ समूह व्यवहार' (रेफरेंस ग्रुप बिहेवियर) का एक प्रकार है, जिसमें एक समूह अन्य समूहों के प्रति सकारात्मक या नकारात्मक रुख अपनाता है। यदि एक का अनुकरण करता है तो दूसरे के अनुकरण से प्रयत्नपूर्वक बचता है। संस्कृतकरण की अवधारणा एक दशक तक चर्चा का विषय रही है, इसकी प्रशंसा भी हुई है, आलोचना भी। मैं इसके बारे में एक ही प्रश्न उठाऊंगा : संस्कृतकरण अनुकरण है या विद्रोह या अनुकरण द्वारा विद्रोह? छत्तीसगढ़ के चमार जब सतनामी संप्रदाय में

शरीक हुए तो उन्होंने मांस-मदिरा का त्याग किया, तंबाखू छोड़ी, बैंगन और टमाटर खाना छोड़ा तथा जनेऊ, भजन और पूजा-पाठ अपनाया। मेरी दृष्टि में यह अनुकरण द्वारा विद्रोह था, क्योंकि इस आंदोलन द्वारा समाज की आधारभूत मान्यताओं को ही चुनौती दी गई थी। इस प्रकार के एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन यदि हम अनुकरणविद्रोह के इस ढांचे में करें तो कुछ उपयोगी परिणाम निकल सकते हैं।

भारतीय समाज-व्यवस्था को उसके कुछ आधारभूत सिद्धांतों के सहारे समझने के यत्न शुरू हुए हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण लुई-डयूमां की 'होमो हायरारकिसस' (श्रेणी विभाजित मानव) की स्थापना है। यह स्थापना मुख्यतः हिंदू समाज पर लागू होती है, जहां कर्मकांडी शुचिता के आधार पर समाज का अनेक ऊंचे-नीचे स्तरों में विभाजन होता है। शुचिता का सिद्धांत भारतीय समाज के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है, परंतु उसे सर्वोपरि मानना गलत होगा। आर्थिक और सामाजिक कारण सत्ता से जुड़े रहते हैं और सत्ता समाज के स्वरूप और चरित्र को प्रभावित करती है। भारतीय समाज के विकास का इतिहास इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है।

भारतीयता एक मनोदशा है। भारतीयता को समझने के लिए भारतीय मानस को समझना जरूरी है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें अनुसंधान और चिंतन बहुत कम हुआ है। सुधीर कक्कड़ की किताब 'द इनर वर्ल्ड' (भीतरी दुनिया) एक उपयोगी अपवाद है। भारतीय मानस की बुनावट और अंतःक्रियाओं पर खोज की एक अच्छी शुरूआत इस पुस्तक से हुई है। उसकी अध्ययन-विधि और स्थापनाओं से पूरी तरह सहमत होना जरूरी नहीं है। मिथकों का प्रतीकात्मक मूल्य होता है, किंतु उन्हें समसामयिक समाज की मानसिक अंतःक्रियाओं से जोड़ना, जैसा सुधीर कक्कड़ ने किया है, विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। किन स्थितियों में और कैसे भारतीय मानस अपनी एकता की अभिव्यक्ति करता है, इसकी गहराई में खोज होनी चाहिए।

अंततः भारतीयता का प्रश्न भावना का प्रश्न है। भावना यदि ज्ञान पर आधारित हो तो वह अधिक टिकाऊ होती है। इस खोज के लिए हमें नचिकेता को अपना उदाहरण बनाना होगा, जिसे ज्ञान के लिए यमराज के पास जाने तक में हिचक नहीं हुई और इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसे रामानुज की भांति बहुजनहिताय बांट देना होगा, किसी भी व्यक्तिगत मोक्ष और स्वर्ग-प्राप्ति के मोह को त्यागकर।

जड़ों की तलाश एक बुनियादी सवाल है। वह एक सार्थक जिज्ञासा से जुड़ा है और अस्तित्वबोध को एक नया आयाम और नए मूल्य देता है। सतह का स्पर्श हमें सच्चे उत्तर नहीं देगा, उसके लिए वैज्ञानिक विवेक के सहारे हमें गहराई में जाना होगा। महज फैशन के तौर पर इस प्रश्न को उठाना और छिछले उत्तर दे देना दिमागी ऐयाशी से ज्यादा कुछ नहीं है।

भारतीयता की बात तो आजकल बहुत सुनी जा रही है, पर उसके तत्त्वों के विश्लेषण के गंभीर प्रयत्न नहीं हो रहे हैं। जो स्थापनाएं और अवधारणाएं प्रस्तुत की गई हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। सही समझ की कुछ पूर्व शर्तें हैं :

इतिहास दृष्टि;

परंपरा बोध, जिसमें उसका मूल्यांकन शामिल है;

समग्र जीवन-दृष्टि, जो भूत, वर्तमान और भविष्य को जोड़कर देख सके;

वैज्ञानिक विवेक, जिससे वैकल्पिक भविष्य और जीवन के बदलते आयामों के प्रश्न जुड़े हैं।

शासकों और युद्धों के इतिहास की उपयोगिता सीमित है। उल्लेखनीय सांस्कृतिक उपलब्धियों की कालानुक्रम से बनाई गई सूची भी हमारी समझ को आगे नहीं बढ़ाती। जन की भूमिका इस इतिहास में रेखांकित नहीं होती। उसके बिना भारतीयता की समझ अधूरी और एकांगी होगी; उसमें विकृतियां भी आ सकती हैं। भारतीय परंपरा के बारे में हमें एकवचन में नहीं, बहुवचन में विचार करना है। हमें परंपराओं के अंतरावलंबन को समझना है और उनका मूल्यांकन करना है। हम वर्तमान में जीते हैं, पर हमारी जड़ें अतीत में हैं। वर्तमान का भविष्य को भुला देना घातक सिद्ध हो सकता है, ऐसा करना भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायित्वहीनता की भावना का प्रदर्शन होगा। परंपराओं की परख इसी ढांचे में करना जरूरी है। हमें परंपराओं को हथकड़ी और बेड़ी नहीं मानना चाहिए, यदि वैज्ञानिक विवेक का आग्रह हो तो उन्हें नया मोड़ दिया जा सकता है, तोड़ा भी जा सकता है। परंपराएं उसी सीमा तक उपयोगी हैं जिस सीमा तक वे एक वैकल्पिक भविष्य की खोज में सहायक होती हैं और जीवन के बदलते आयामों के लिए हमें ढालने में मददगार होती हैं। उन्हें बदला भी जा सकता है, तोड़ा भी जा सकता है, इस संदर्भ में हमें गौतम बुद्ध का वचन स्मरण रखना चाहिए—'नाव नदी पार करने के लिए होती है, कृतज्ञता-भाव से उसे जीवन-भर पीठ पर ढोना मूर्खता

होगी।' भारतीयता की तलाश हमें आगे बढ़ने के लिए करनी है, पीछे जाने के लिए नहीं।

भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएं, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जाएगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है। न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं, उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।

अंतिम टिप्पणी के रूप में कुछ शब्द और।

भारत ने जगत्गुरु होने का एक भ्रम पाल रखा है। इससे जितनी जल्दी निजात मिले, उतना अच्छा। भारत ने यदि मानव-सभ्यता को कुछ दिया है, तो उसने बहुत कुछ लिया भी है। इस आदान-प्रदान के बिना हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध हो जाता।

हमारा दूसरा जातीय भ्रम है, हमारी समाज-व्यवस्था के आदर्श होने का। यदि हमारी व्यवस्था आदर्श और स्वयंपूर्ण थी तो वह समय-समय पर उठने वाली गंभीर समस्याओं का हल क्यों नहीं खोज सकी? विसंगतियों के कारण हमारी दुर्दशा क्यों हुई?

निःसंदेह हमारे पास उच्च आदर्शों और लक्ष्यों का अनमोल खजाना है, पर इनके संदर्भ में ही हम तीसरा भ्रम पाल रहे हैं। हमारे ऊंचे आदर्श हमारी जिंदगी में रसे-बसे नहीं हैं, हमारी कथनी और करनी में भारी अंतर है। क्या हम हृदय पर हाथ रख पूरी सचाई से यह कह सकते हैं कि हमारा आचार-विचार सत्य पर आधारित है? अहिंसा के देश में हिंसा का ज्वालामुखी क्यों फूट रहा है? अपरिग्रह की दुहाई देने वाले समाज में उपभोक्ता संस्कृति क्यों पनप रही है?

इक्कीसवीं सदी में प्रवेश की चर्चा चौथे भ्रम को जन्म दे रही है। हमारा ध्यान उच्च विज्ञान और तकनीकी पर केंद्रित है, हम उनके सांस्कृतिक पक्ष पर बहुत कम विचार कर रहे हैं। मानवीय मूल्यों और मानसिकता पर उनका क्या प्रभाव होगा? क्या यांत्रिकता और अमानवीकरण ही हमारे भविष्य हैं?

सच्ची भारतीयता की तलाश का आग्रह है कि हम जगत्गुरु होने का दंभ छोड़कर यथार्थ की भूमि पर उतरें और अपनी समसामयिक दशा पर विचार करें। पुनर्गठन के लिए हमारे समाज को नए लक्ष्य और साधन चाहिएं। भारतीय परंपराओं के अक्षय स्रोत से हमें भारतीयता के नए प्रतीक और मूल्य चुनने हैं। ये तत्त्व ऐसे हों जिनके द्वारा हम आज और आने वाले कल की चुनौतियों का सामना कर सकें। इस प्रक्रिया में हमें कई मुखौटे उतारने होंगे और जीवन-दृष्टि पर छाए पाखंड की धुंध का उन्मूलन करना होगा। 'राष्ट्रीय मुख्य धारा' में सबके संविलन की नीति विघटनकारी सिद्ध होगी, इसके विपरीत हमें सच्ची सामाजिक संस्कृति विकसित करना है, जिसमें आर्थिक विषमताएं न्यूनतम हों और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए अधिकतम अवसर हों। इक्कीसवीं सदी की अनिवार्यताओं को समझकर हमें नए तत्त्वों को आत्मसात् करने की क्षमता को और भी विकसित करना है, जिससे हम अपनी अस्मिता को आहत और विखंडित किए बिना अपने लिए एक सुंदर वैकल्पिक भविष्य का निर्माण कर सकें।

❖

कानून मनुष्य को अधिकार देता है, लेकिन उस अधिकार के उपयोग की शक्ति नहीं देता; बहुत हुआ तो कानून मनुष्य को मौका देता है, लेकिन मौके का फायदा उठाने की कुव्वत नहीं पैदा कर सकता। कानून घोड़े को पानी दिखा सकता है, पिला नहीं सकता।

—दादा धर्माधिकारी

क्या मनुष्य ठीक उसी प्रकार से एक भौतिक अस्तित्व है जिस प्रकार पत्थर, लोहा, प्रकाश या पेड़-पौधे आदि भी हैं? क्या मनुष्य और सृष्टि के अस्तित्व की पृष्ठभूमि में सचमुच कोई चैतन्य तत्त्व नहीं है? क्या इस चैतन्य तत्त्व का न होना स्वयं भौतिक विज्ञान द्वारा सर्वतः प्रमाणित है? क्या मनुष्य की चेतना सिर्फ भौतिक तत्त्वों का ही समवाय है? क्या विज्ञान द्वारा इस संबंध में किसी अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचा जा चुका है? क्या विज्ञान द्वारा भी अब कुछ जानना बाकी नहीं रह गया है? क्या विज्ञान द्वारा जो कुछ पहले जाना गया, वह काफी हद तक अधूरा या एकांगी सिद्ध नहीं हुआ है? इन सब प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर पाए बिना संपूर्ण मनुष्य जाति के भविष्य को केवल भौतिकीय नियमों द्वारा संचालित करने की कोशिश न केवल अमानवीय बल्कि अवैज्ञानिक कोशिश ही कही जा सकती है।

❑ वैज्ञानिकता का आतंक

✍ नन्दकिशोर आचार्य

यूरोप में पुनर्जागरण के बाद शनैः-शनैः और विशेषतया पिछली दो शताब्दियों में विज्ञान के विकास की तीव्र गति के साथ-साथ सभी प्रकार के बौद्धिक अनुशासनों के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति बलवती होती गई है कि मानवीय चेतना और उसके व्यवहार को भी वैज्ञानिक आधारों पर समझा जाना चाहिए। शायद इसी के कारण मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार का अनुसंधान-अनुशीलन करने वाली विद्याओं को नीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान, राजनीति-विज्ञान आदि कहा जाने लगा है। तर्क यह दिया जाता है कि विज्ञान एक व्यवस्थित और प्रणालीबद्ध अध्ययन है, अतः उस हर विद्या को विज्ञान कहा जा सकता है जो व्यवस्थित और प्रणालीबद्ध प्रक्रिया पर आधारित हो—बल्कि वैज्ञानिकता का यह आग्रह इतना प्रबल होता गया है कि ललितकलाओं और साहित्य आदि के क्षेत्र में भी कुछ लोग अब 'क्रिएशन' या 'क्रिएटिविटी' की बजाय 'इनवेंशन' या 'इनवेंटिवनैस' पदों का प्रयोग करना अधिक बेहतर समझने लगे हैं।

इससे एक प्रवृत्ति तो जरूर परिलक्षित हो जाती है, लेकिन इतने मात्र का कोई बुनियादी महत्त्व नहीं है। इसमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता कि हम प्रत्येक चीज और धारणा का एक सुव्यवस्थित और प्रणालीबद्ध प्रक्रिया के अंतर्गत अध्ययन करना चाहें—बल्कि इसके बिना तो किसी अध्ययन को अध्ययन कहना भी उचित नहीं होगा। प्रत्येक विद्या के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति प्रारंभ से ही रही है और एक सुव्यवस्थित तर्कप्रणाली का उपयोग ज्ञान की प्रत्येक शाखा के अध्ययन के लिए किया जाता रहा है—अब उसे हम शास्त्र या विद्या की बजाय विज्ञान कहने लगें तो इससे कोई बुनियादी अंतर नहीं पड़ता।

लेकिन जब हम विज्ञान की बात करते हैं और किसी धारणा के विज्ञान-सम्मत या विज्ञान-विरोधी होने की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस धारणा के सुव्यवस्थित प्रक्रियाबद्ध अध्ययन से नहीं होता—तब हमारा सीधा अभिप्राय यही होता है कि हमारी धारणा या विचार प्राकृतिक विज्ञानों की अधुनातन शोधों से प्रभावित है या नहीं, यानी तब हम 'नैचुरल साइंसेज' या प्राकृतिक विज्ञानों को ही विज्ञान की कोटि में स्वीकार कर रहे होते हैं। इसका मतलब स्पष्टतया यही है कि विज्ञान या वैज्ञानिकता का आग्रह सिर्फ तार्किकता या बुद्धिवादिता का आग्रह नहीं है बल्कि वह तर्क या बुद्धि की प्रक्रिया के प्रमुख स्रोत के रूप में भी प्राकृतिक विज्ञान को ही मानने और उस प्रक्रिया के परिणामों की परख भी उस मूल स्रोत के आधार पर ही करने का आग्रह है। दूसरे शब्दों में, यह एक स्पष्ट आग्रह है कि मनुष्य की चेतना और व्यवहार की प्रक्रिया भी भौतिक या प्राकृतिक विज्ञान के नियमों से संचालित एवं बाधित है, अतः उनका अध्ययन भी इसी आधार पर किया जाना संगत यानी विज्ञानसंगत है। इसे मानने का मतलब यह मान लेना है कि मनुष्य संपूर्णतः एक भौतिक अस्तित्व है—देह नहीं चेतना के स्तर पर भी एक भौतिक अस्तित्व है—और

इसीलिए उसका अध्ययन और उसके व्यवहार का संचालन भी भौतिक विज्ञान के नियमों के आधार पर ही होना चाहिए। यही कारण है कि एक ओर साहित्य और कला जैसी मानवीय चेतना की ललित अभिव्यक्तियों में तो दूसरी ओर इतिहास की प्रक्रिया में—जो मानवीय व्यवहार की सांगोपांग अभिव्यक्ति है—उन्हीं नियमों का आरोपण किया जाता है जो भौतिक विज्ञान के अपने निष्कर्ष होते हैं। इसीलिए कभी इतिहास को भौतिकीय द्वंद्वात्मकता के आधार पर समझने की कोशिश की जाती है तो कभी डार्विनीय विकासवाद के आधार पर। इस तरह के प्रयत्नों की अपनी सार्थकता है और उससे भी इतिहास की हमारी समझ बढ़ती ही है, लेकिन समस्या वहां उठती है जब हम केवल भौतिकीय नियमों या प्राकृतिक विज्ञान के अद्यतन निष्कर्षों को ही न केवल सारे इतिहास पर लागू कर देते हैं बल्कि मानवीय आचरण का औचित्य भी उन्हीं के आधार पर जांचने-परखने लगते हैं। यानी जब हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य समग्रतः एक भौतिक अस्तित्व है, अतः उसके सभी प्रकार के आचरण का स्रोत भौतिकीय नियम ही हैं।

क्या यह अपने-आपमें एक विज्ञानसंगत धारणा है? क्या मनुष्य ठीक उसी प्रकार से एक भौतिक अस्तित्व है जिस प्रकार पत्थर, लोहा, प्रकाश या पेड़-पौधे आदि भी हैं? क्या मनुष्य और सृष्टि के अस्तित्व की पृष्ठभूमि में सचमुच कोई चैतन्य तत्त्व नहीं है? क्या इस चैतन्य तत्त्व का न होना स्वयं भौतिक विज्ञान द्वारा सर्वतः प्रमाणित है? क्या मनुष्य की चेतना सिर्फ भौतिक तत्त्वों का ही समवाय है? क्या विज्ञान द्वारा इस संबंध में किसी अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचा जा चुका है? क्या विज्ञान द्वारा भी अब कुछ जानना बाकी नहीं रह गया है? क्या विज्ञान द्वारा जो कुछ पहले जाना गया, वह काफी हद तक अधूरा या एकांगी सिद्ध नहीं हुआ है? इन सब प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर पाए बिना संपूर्ण मनुष्य जाति के भविष्य को केवल भौतिकीय नियमों द्वारा संचालित करने की कोशिश न केवल अमानवीय बल्कि अवैज्ञानिक कोशिश ही कही जा सकती है।

आधुनिक युग के बहुत-से वैज्ञानिक भी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि भौतिक अस्तित्व की पृष्ठभूमि में किसी चेतना के अस्तित्व के स्वीकार के बिना भौतिक जगत की सही एवं पूर्ण व्याख्या संभव नहीं है। नोबल पुरस्कार विजेता जीववैज्ञानिक डा. जार्जवाल्ड का मानना है कि चेतना के जीवन के उद्गम के मूल में होने की संभावना को मानकर हम अनेक वैज्ञानिक गुत्थियों को हल कर सकते हैं। भौतिक विज्ञानी प्रोफेसर यूजेन विगनर यह मानते हैं कि चेतना के सिद्धांत का सहारा लिए बिना क्वांटम यांत्रिकी को नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार भौतिकविज्ञानी चौकी जीवन के भौतिक उद्गम की संभावना को सही नहीं मानते। फ्रांसीसी वैज्ञानिक ज्यां कैरन ब्रह्मांड का आद्य प्रारंभ चेतना से ही मानते हैं। धीरे-धीरे एक बड़ी संख्या में वैज्ञानिक भौतिक प्रक्रिया में निहित चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करने की ओर उन्मुख हो रहे हैं। काप्रा जैसे विज्ञानवेत्ता रहस्यवादी और आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा विज्ञान द्वारा प्रमाणित अणु-परमाणु व्यापार में एक साम्य देखते हैं।

लेकिन यह मानना चाहिए कि इस दिशा में भी अभी तक विज्ञान ने कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं दिया है। उल्लिखित सभी विज्ञानवेत्ता चेतना की संभावना के बारे में ही बात कर रहे हैं, उसके आद्य अस्तित्व को प्रमाणित कर सकने का कोई वैज्ञानिक आधार वे नहीं दे सके हैं, अतः उनके विचार भी अभी तक विज्ञानसिद्ध विचार नहीं हैं—बल्कि इस संभावना की भी पूर्णतया अनदेखी नहीं की जा सकती कि अनवरत शोध की थकान और उसके बावजूद किसी अंतिम निष्कर्ष तक न पहुंच पाने की हताशा ने उन्हें इस तरह की संभावनाओं पर विचार करने के लिए बाध्य किया हो।

इसलिए बेहतर है कि हम एक बार जीवन और इसलिए मनुष्य के भौतिक उद्गम को ही स्वीकार कर आगे का रास्ता पहचानने की कोशिश कर देखें। यदि हम यह मान भी लें कि जीवन और मनुष्य—और इसलिए चेतना भी—भौतिक तत्त्वों के संयोग से हुआ एक गुणात्मक विकास है तो भी क्या हम मानवीय चेतना और उसके व्यवहार को भौतिकीय नियमों द्वारा संचालित मान सकते हैं? यहां यह प्रश्न भी तो उठता है कि जो 'मूल' में नहीं है वह 'परिणाम' में कैसे आ सकता है, क्योंकि कार्य को कारण से अलग नहीं किया जा सकता। अर्थात् भौतिक तत्त्व में भी चेतना का बीज रूप में होना तो स्वीकार करना ही होगा। लेकिन फिलहाल इस सवाल को यहीं पर छोड़ते हुए बहस की गुंजाइश के लिए हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि चेतना भौतिक तत्त्वों के आपसी संघात का गुणात्मक विकास है अतः वह ब्रह्मांड के आद्य प्रारंभ में नहीं बल्कि विकास प्रक्रिया का परिणाम है। यदि ऐसा है भी तो क्या वह अपने गुणात्मक अंतर के बावजूद उन्हीं नियमों से प्रभावित और संचालित है जो चेतनाहीन भौतिक तत्त्वों पर लागू होते हैं? भौतिक तत्त्वों में चेतना का विकास एक युगांतरकारी और बुनियादी गुणात्मक विकास है क्योंकि भौतिक तत्त्वों की प्रक्रिया एक अंधी प्रक्रिया है—प्राकृतिक शक्तियां सचेत नहीं हैं, वे संकल्प-विकल्पहीन शक्तियां हैं—जबकि मनुष्य

को एक भौतिक अस्तित्व मान लेने पर भी वह एक ऐसा चेतनासंपन्न भौतिक अस्तित्व होता है जिसकी भौतिक प्रक्रिया पर भी चेतना का नियंत्रण रहता है—बल्कि यह नियंत्रण जितना अधिक विकसित होता है उतना ही वह अपने गुणात्मक विकास का और अधिक संरक्षण-संवर्धन करता हुआ उस दिशा के आगे के गुणात्मक विकास की ओर उन्मुख होता जाता है। यदि चेतना भौतिक तत्त्वों का ही गुणात्मक विकास है तो चेतनापूर्ण भौतिक तत्त्वों की प्रक्रिया में एक बुनियादी गुणात्मक अंतर होना स्वाभाविक है—खास तौर से तब जबकि चेतना का तात्पर्य ही विचार, संकल्प-विकल्प और वरण करने तथा अपने वरण किए हुए रास्ते पर कुछ चलकर पुनर्विचार करने और तदनुसार रास्ते का नए सिरे से निर्धारण करने के गुणों से भी है क्योंकि चेतना ज्ञान और कर्म की स्वतंत्र प्रक्रिया की दिशा में ले जाने वाला गुण है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी चेतना और उसके द्वारा संचालित मानवीय व्यवहार को पूर्णतया भौतिक नियमों के अधीन मानने का आग्रह, यानी मानवीय चेतना और व्यवहार को विज्ञानसिद्ध नियमों, भौतिक या प्राकृतिक विज्ञान के नियमों से प्रेरित और नियंत्रित करने का आग्रह क्या अपने-आपमें एक अंध आग्रह नहीं है? क्या यह मानवीय विचार पर एक तरह की वैज्ञानिकता का आतंक नहीं है? मेरे पास भी इसका कोई स्पष्ट उत्तर या 'विज्ञानसम्मत उत्तर' नहीं है। लेकिन इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है और इसके स्पष्ट उत्तर के बिना मानवीय नियति को इसी के आधार पर निर्देशित करने की चेष्टा का आग्रह एक सही और मानवीय आग्रह नहीं कहा जा सकता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भौतिक या प्राकृतिक विज्ञान ने भौतिक या प्राकृतिक शक्तियों को पहचानने में हमारी काफी मदद की है। मानवीय आचरण के अध्ययन में भी कई बार कुछ भौतिक तथ्यों को समझने की जरूरत पड़ती है। निश्चय ही ऐसी स्थिति में भौतिक विज्ञान तथ्य जगत की सही पहचान करवाने में हमारी मदद करता है और उसकी इस उपयोगिता की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। मनुष्य एक चेतनामय भौतिक अस्तित्व है, अतः उसकी भौतिक यानी जैविक प्रक्रिया को समझने में भी भौतिक विज्ञान का उपयोग संगत है, लेकिन उसकी चेतना के व्यवहार को भौतिकीय नियमों से शासित मानकर वैज्ञानिकता के नाम पर उसे निर्देशित या नियंत्रित करना कहां तक विज्ञानसम्मत है, इस पर विचार करने की जरूरत अवश्य महसूस होती है।

❖

यदि हम अपने अंतःकरण की श्रद्धा के प्रति सच्चे हों, यदि हमारी बलवती निष्ठा हो, तो हम जीवन की जय-पराजयों के तमाशे के एक तटस्थ साक्षी, दर्शक बन जाते हैं। अपने चरम सामर्थ्य से विजय के लिए प्रयत्न करते हुए भी हम उस विजय के दास, उसके वशीभूत नहीं हो जाते। अपनी संभाव्य पराजय को उलटने के लिए संपूर्ण शक्ति लगाकर संघर्ष करते हुए भी पराजय के सामने हम झुकते नहीं, हिम्मत नहीं हारते। अपनी धार्मिक शक्ति के कारण हम अपने अंतःस्थित परम आत्मसंयम के प्रति सचेत रहते हैं; हम जानते हैं कि इस संयम के बल पर हम भली-बुरी किसी भी परिस्थिति में झुकेंगे नहीं। इसलिए विजय हो या पराजय, हम समान रूप से अविचलित रहकर डटकर खड़े हो जाते हैं। 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।' यह हमारे धर्म की शिक्षा है। जिनका संपूर्ण हित, कल्याण और श्रेय केवल उनके आसपास कें संसार तक सीमित है, उनसे हम ईर्ष्या क्यों करें? क्या हम नहीं जानते कि हित-अहित, भलाई-बुराई, प्रसिद्धि-निंदा, कीर्ति-अपकीर्ति, देदीप्यमान सफलता और विपत्ति की कालिमा—ये सदा दोलित होते रहते हैं। इन जोड़ों में से कोई एक स्थाई नहीं रहता; चक्रनेमिक्रमेण एक के बाद दूसरा आता है।

—भगिनी निवेदिता

फिर हिंसा की अपनी सीमाएं हैं। पहली बात तो हिंसा से किसी की हत्या हो सकती है, लेकिन उसका हृदय या विचार नहीं बदल सकता। बल्कि जितनी ही ज्यादा हिंसा होती है, उतना मन नहीं बदलता है। फिर वर्तमान युग में विज्ञान एवं तकनीक ने राजसत्ता को अपार बलशाली बना दिया है। उससे हिंसा से लड़ना ज्यादा कठिन हो गया है। इतिहास साक्षी है कि हिंसा के माध्यम से समाज परिवर्तन न तो स्थाई होता है न मूल-चूल। फ्रांस की क्रांति से सत्ता जनता के हाथों में नहीं आकर नेपोलियन के हाथों में गई। इंग्लैंड में चार्ल्स प्रथम की हत्या हुई, लेकिन सत्ता क्रामवेल के हाथ गई। सोवियत संघ में जार मारे गए लेकिन सत्ता स्टालिन जैसे तानाशाह के साथ गई। पड़ोसी बंगला देश में मुजीबुर्रहमान की हत्या से जियाउल हक नामक सैनिक तानाशाह ही निकला। हिंसक क्रांति में कुछ ही लोग भाग ले सकते हैं, अहिंसक क्रांति में तो बूढ़े-बच्चे, नर-नारी सभी भाग ले सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा की सीमा नहीं है।

❑ अहिंसा की विसंगतियां

✍ प्रो. रामजीसिंह

हम अहिंसा का चाहे कितना ही गुणगान करें लेकिन इसकी अवधारणा में कुछ विसंगतियां हैं। बिना हिंसा के शायद मानव-जीवन संभव ही नहीं है। एक सांस में न जाने कितने सूक्ष्म जीवाणुओं की हत्या हो जाती है। जल, जो हमारा जीवन कहलाता है उसमें अदृष्ट असंख्य प्राणी पानी के साथ पेट में चले जाते हैं। हम निरामिष निष्ठा का भले जितना ही गर्व करें, जगदीशचन्द्र बसु ने तो यह प्रमाणित ही कर दिया है कि वनस्पतियों में भी प्राण एवं संवेदनाएं होती हैं। वे भी सुख-दुख की अनुभूति करती हैं। डार्विन ने तो 'जीवन-संघर्ष' एवं 'योग्यता की रक्षा' के सिद्धांत को नैसर्गिक नियम सिद्ध किया है। फिर प्राणियों में सजातीय एवं विजातीय तथा प्रकृति एवं प्राणी के बीच संघर्षों को भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं। विभिन्न प्राणियों के बीच आहार श्रृंखला में हम 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के उदाहरण तो प्रत्यक्ष देखते हैं। चूहा बिल्ली का भोजन बनता है, बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। मानव सभ्यता के इतिहास पर भी यदि हम दृष्टिपात करें तो प्रारंभ से ही हमें संघर्ष ही दीखेगा। शुरू में मानव अपने दांतों एवं नाखूनों से लड़ता था, फिर प्रस्तर-युग में पत्थरों से लड़ता था। नवीन प्रस्तर-युग में नुकीले पत्थर युद्ध के उपकरण बने। कालक्रम में तीर-धनुष, लाठी-सोटे, फिर धातु-युग में तलवार, भाला, बर्छी आदि एवं बारूद-युग में बंदूक एवं बम बने। परमाणु-युग में हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि बम एवं प्रक्षेपास्त्रों का आविष्कार हुआ। पता नहीं, मानव अपने विनाश के लिए और क्या-क्या बनाएगा?

समाजशास्त्र में अनेक चिंतक हैं जो समाज एवं राज्य का आधार प्रसंविदा नहीं बल्कि शक्ति मानते हैं। मैकडूगल जैसा मनोवैज्ञानिक मानव की मूल प्रवृत्तियों में कलह, क्रोध, एवं वर्चस्व आदि मानता है। फ्रायड ने भी जीवन-वृत्ति के साथ मृत्यु की वृत्ति का उल्लेख किया। इन सब तथ्यों से यही लगता है कि मानव जीवन में हिंसा एक नैसर्गिक तत्त्व के रूप में है। फिर यह कहना कि मानव की मूल प्रवृत्ति पूर्णरूप से अहिंसात्मक है, एक भ्रम जैसा है। ज्यादा-से-ज्यादा हम कह सकते हैं कि मानव मस्तिष्क में हिंसा और अहिंसा, अच्छाई और बुराई दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। तुलसीदास ने कहा ही है—'सुमति कुमति सब के उर रह हीं।' गीता में भी दैवी संपदा के साथ आसुरी संपदा के अस्तित्व को माना गया है—'द्वौ भूत सर्गो लोकेस्मिन्दैव आसुर एव च' (गीता-16/6)। गांधीजी ने मानव को अवश्य ही परम पुरुषार्थ माना है और मानव की अच्छाई में उनका विश्वास है, किंतु गीता की दार्शनिक व्याख्या में प्रथम श्लोक में ही वे कहते हैं कि यह शरीररूपी धर्मक्षेत्र है जिसमें कौरव आसुरी वृत्ति का प्रतीक है और पांडव दैवी वृत्ति का। इन दोनों में युद्ध होता है, यही महाभारत है।

शायद इन्हीं तत्त्वों को समझते हुए उन्होंने एकांतिक अहिंसा या संपूर्ण अहिंसा को स्वीकार नहीं किया था। उनके

अनुसार—'असंभव है। जब तक हम मानव शरीर धारण करते हैं तो पूर्ण अहिंसा की अवधारणा ज्यामितिशास्त्र के युक्लिड की बिंदु या रेखा की कल्पित परिभाषा के समान केवल एक अमूर्त अवधारणा है'—हरिजन (21.7.40)।

हिंसा केवल हत्या करने में ही नहीं है, बल्कि अपने क्षणभंगुर शरीर की रक्षा के लिए भी है। भोजन, जल ग्रहण आदि क्रिया में जीव-हत्याएं होती हैं। वह तो अपने स्वार्थ के लिए है अतः उसे हिंसा मानना ही होगा।

किंतु इस प्रकार की अपरिहार्य हिंसा को हम हिंसा नहीं मान सकते। हम किसी भी प्राणी को कुछ सीमा तक कष्ट पहुंचाए बिना अपनी प्राणरक्षा भी नहीं कर सकते। अपनी प्राणरक्षा के लिए या अपने आश्रित लोगों की रक्षा या अपनी जान की रक्षा के लिए हिंसा की जाती है। इसलिए संपूर्ण अहिंसा के स्थान पर हमें उत्तरोत्तर प्रगतिशील अहिंसा की अवधारणा का विचार करना होगा।

हिंसा तो कभी-कभी कर्तव्य भी हो जाती है। जैसे हम अपने जीवन-यापन एवं जीवन-रक्षण के लिए सब्जी एवं अन्य चीजों तथा अपने स्वास्थ्य के लिए मच्छरों आदि के लिए कीटनाशक दवाओं का उपयोग करते हैं, जिसमें हम कितने प्राणियों का उपयोग करते हैं, लेकिन हम इसे अधर्म या पाप नहीं मानते। इसी प्रकार हमें मानव-रक्षा के लिए मांस-भक्षी प्राणियों का वध करना पड़ता है, यहां तक कि किसी-किसी परिस्थिति में मानव-हत्या भी आवश्यक हो जाती है। उदाहरण-स्वरूप जब कोई मनुष्य पागल होकर अपने हाथों में तलवार ले उन्मत्त होकर हर खास-आम की हत्या करने लग जाता है और उसे जीवित पकड़ना संभव नहीं होता तो उसकी हत्या करने से संपूर्ण समाज का आशीर्वाद मिलता है।

हां, यह अवश्य है कि हम स्वभाव से किसी भी जीवधारी प्राणी की हत्या करने में एक प्रकार की भयंकरता की अनुभूति करते हैं। इसीलिए प्राण लेने के विकल्पस्वरूप हम पागल कुत्ते को बांधकर धीरे-धीरे मरने के लिए छोड़ देते हैं, किंतु उसकी हत्या नहीं करते हैं, हालांकि इस प्रकार की तिल-तिलकर मरने की स्थिति देखना ठीक नहीं लगता। मनुष्य की तो हम इस प्रकार हत्या नहीं करते, क्योंकि हमारे पास अन्य विकल्प भी हैं, हालांकि हम किसी हिंसक पागल की हत्या करने में नहीं हिचकते, क्योंकि हमारे पास विकल्प नहीं होता। इसी प्रकार यदि हमारे प्यारे बच्चे को कुत्ते ने काट खाया हो और मर्मांतक पीड़ा से कराह रहा हो और उसे बचाने का कोई विकल्प नहीं होता तो उसके प्राण समाप्त करा देना तो एक कर्तव्य माना जाता है। भाग्यवाद की एक सीमा होती है, लेकिन हम किसी को जघन्य रूप से कराहते हुए देखते रहें एवं भाग्यवाद पर आसरा करते रहें, यह उचित नहीं है। (यंग इंडिया 18.11.26)

लेकिन प्रश्न उठता है कि यदि हम ऐसी विषम परिस्थिति में हिंसा पर उतारू पागल या अवश्यंभावी मरने वाले किसी प्राणी की हत्या में कोई हिंसा मानते हैं तो फिर हम दूसरी तरफ यह क्यों नहीं मानें कि ऐसे व्यक्ति के साथ क्या करें जो पूर्णरूप से हिंसा-प्रवण होकर उत्पात कर रहा हो? लेकिन हम तो मानते हैं कि कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका हृदय-परिवर्तन संभव नहीं हो सकता है। हमें पापी और पाप में अंतर समझना होगा। हमें पाप से अवश्य घृणा करनी चाहिए न कि पापी से। पापी के प्रति हमारे हृदय में किसी प्रकार का द्वेष नहीं होना चाहिए। यही नहीं, अनावश्यक रूप से उसके प्रति अपशब्दों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। सत्याग्रही की यह आस्था है कि दुनिया में ऐसा कोई भी पतित व्यक्ति नहीं है जिसको प्रेम से बदला नहीं जा सकता है। सत्याग्रही तो मानता ही है कि अच्छाई से बुराई, प्यार से क्रोध, सत्य से असत्य एवं अहिंसा से हिंसा पर विजय पाई जा सकती है। असल में दुनिया से बुराई दूर करने का दूसरा रास्ता ही नहीं है। गांधी तो संसार में किसी से घृणा करने में असमर्थ थे। प्रार्थनापूर्ण सुदीर्घ-साधना एवं अनुशासन के कारण महात्मा गांधी किसी के प्रति घृणाभाव हृदय में नहीं लाते थे। यद्यपि यह एक बड़ी बात है लेकिन यह उनकी विनम्र उपलब्धि थी। उन्होंने अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था से केवल घृणा ही नहीं की, बल्कि उसका खुलकर विरोध भी किया। भारत के इस प्रकार शोषण को वे हृदय से घृणा करते थे, लेकिन अंग्रेजों के प्रति उनके हृदय में किसी प्रकार की घृणा या दुर्भावना नहीं थी। इसलिए उनका हृदय-परिवर्तन करने का वे बराबर प्रयास करते थे। इसी प्रकार अस्पृश्यता के प्रति वे हर समय खिलाफ थे, लेकिन सवर्ण हिंदुओं के प्रति दुर्भावना नहीं रखते थे। उनकी धारणा थी कि हम अपने शत्रुओं को प्रेम से ही जीत सकते हैं—घृणा से नहीं। घृणा तो हिंसा का सूक्ष्म रूप है। इसलिए उनके असहयोग की अवधारणा के मूल में घृणा नहीं, बल्कि प्रेम का भाव था। यों उनका स्वधर्म उन्हें किसी से विद्वेष या घृणा करने की अनुमति भी नहीं देता था।

अहिंसा को हम सामान्यतः निषेधात्मक अवधारणा मानते हैं, यह भी गलत है। अहिंसा तो एक अत्यंत भावात्मक प्रत्यय है—जिसका अर्थ है कि अपार प्रेम एवं असीम धैर्य। यदि हम अहिंसा के अनुयायी हैं तो हमें अपने विरोधियों के प्रति प्रेम का भाव रखना होगा। हम जिस

प्रकार का व्यवहार अपने मित्रों के साथ करते हैं, वैसा ही व्यवहार अपने विरोधियों से भी करना होगा। क्रियाशील एवं गतिशील अहिंसा का आधार सत्य एवं अभय है। जिस प्रकार अपने आत्मीयों से हम धोखा नहीं करते, न उन्हें भयभीत करते हैं, उसी प्रकार हमें अपने विरोधियों से भी व्यवहार करना होगा। हमारा अध्यात्म ऐसा निष्क्रिय नहीं हो जो केवल निरर्थक ध्यान में उलझा रहे। उसे तो पूर्ण सक्रिय होकर अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध संग्राम करना चाहिए। हमें स्मरण रखना चाहिए कि बिना प्रत्यक्ष कार्यवाही के संसार में हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए गांधीजी ने 'निष्क्रिय प्रतिकार' जैसी दुर्बल शब्दावली को छोड़ सत्याग्रह जैसे शक्तिशाली शब्द का प्रयोग किया था।

अहिंसा की समुचित व्याख्या के अभाव में इसे दुर्बलों का उपकरण माना जाता है। हमें सोचना चाहिए कि भगवान बुद्ध एवं ईसामसीह के उपदेश प्रेम एवं शांति के अलावा क्या थे। भगवान बुद्ध ने स्वयं निर्भीक भाव से परंपरागत दर्प एवं दंभयुक्त पौरोहित्य-परंपरा पर चोट की थी। ईसामसीह ने यरूसलम के आस-पास सूदखोरों को निकाल बाहर कर उन्हें अभिशप्त किया। इस तरह हम देखते हैं कि इन दोनों महापुरुषों ने अहिंसा का क्रियाशील प्रयोग किया। अहिंसा कभी भी प्रवंचना एवं दुर्बल वृत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन यह समझने की चीज है कि यद्यपि बुद्ध एवं ईसामसीह ने अपने विरोधियों को प्रचंड रूप से डांटा-फटकारा, किंतु उनके प्रति किंचित् दुर्भावना को अपने हृदय में आने नहीं दिया।

अतः अहिंसा सच्ची भी हो सकती है एवं झूठी भी। सच्ची अहिंसा मनसा, वाचा, कर्मणा होती है। मन से दूर केवल शरीर से अहिंसा (प्रवंचनामूलक एवं) कायरतापूर्ण होती है। यदि हमारे अंतर में ईर्ष्या या घृणा बनी रहती और केवल ऊपर से प्रतिहिंसा नहीं करने की मुद्रा बनाते हैं, तो वह व्यर्थ है। घृणा का लवलेश अंदर एवं बाहर दोनों से समाप्त होना चाहिए। घृणा के सारे सरंजाम एवं संगीत बंद होने चाहिएं। सच्ची अहिंसा का प्रभाव भले ही तुरंत दीखने में नहीं आता हो, किंतु अंततोगत्वा इसका अद्भुत प्रभाव होता है। सच्ची अहिंसा में द्वेष एवं घृणा के समाप्त हो जाने से प्रेम के अणु-विस्फोट से एक अद्वितीय वातावरण बनता है।

हां, सच्चे अहिंसक को निर्भय भी होना चाहिए। जिसे मृत्यु का भय हो वह गांधी, महावीर या बुद्ध का अनुयायी नहीं हो सकता है। अहिंसा तो सचमुच वीरों का आभूषण है। योग सूत्र में जब कहा गया है कि—'तत्सन्निधौ, बैरत्यागः' तो यह भी कहना चाहिए कि 'तत्सन्निधौ क्लीवत्व त्यागः'। अहिंसा हिंसा से निश्चय ही श्रेष्ठ है, लेकिन जहां हिंसा एवं कायरता के बीच चुनाव करना हो तो हमें हिंसा को ही चुनना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि गांधी हिंसा के पक्षपाती थे या हिंसा को अहिंसा से श्रेष्ठ मानते थे। अहिंसा का कायरता से कभी मेल ही नहीं हो सकता है। भारत गुलामी को कायर होकर बर्दाश्त करता रहे इससे तो बेहतर है वह शस्त्र से इसका प्रतिकार करे। रवींद्रनाथ ठाकुर को लिखते हुए उन्होंने कहा था कि अपने राष्ट्र की संपूर्ण जनता का पुंसत्वहरण के बदले अस्त्र-धारण करना हजार गुना श्रेयस्कर समझूंगा। अहिंसा की शक्ति आत्मा में होती है। वीरता अस्त्र-शस्त्र में नहीं मनुष्य के अंदर आत्मा में होती है। जिस क्रांतिकारी हिंसा के नाम पर निर्दोष लोगों की अमानुषिक हत्याएं की जा रही हैं उसमें न वीरता है, न क्रांतिकारिता। क्रांतिकारी हिंसा के द्वारा सचमुच में एक दबाव दिया जाता है, लेकिन यह पागलपन का बिना समझ-बूझ का दबाव है जिसमें क्रोध एवं अमानवीय हिंसा का तांडव होता है। यहीं से आतंकवाद का जन्म होता है। आतंकवाद में वीरता एवं निर्भयता कम रहती है। आतंकवाद एवं गोपनीयता शक्तिमान का गुण नहीं है। इसमें दोषी से अधिक निर्दोषों की हत्या होती है। इसलिए हिंसा अपने आप भी अंधी है, यह देख ही नहीं पाती कि कौन दोषी है या कौन निर्दोष। फिर हिंसा की अपनी सीमाएं हैं। पहली बात तो हिंसा से किसी की हत्या हो सकती है, लेकिन उसका हृदय या विचार नहीं बदल सकता। बल्कि जितनी ही ज्यादा हिंसा होती है, उतना मन नहीं बदलता है। फिर वर्तमान युग में विज्ञान एवं तकनीक ने राजसत्ता को अपार बलशाली बना दिया है। उससे हिंसा से लड़ना ज्यादा कठिन हो गया है। इतिहास साक्षी है कि हिंसा के माध्यम से समाज परिवर्तन न तो स्थाई होता है न मूल-चूल। फ्रांस की क्रांति से सत्ता जनता के हाथों में नहीं आकर नेपोलियन के हाथों में गई। इंग्लैंड में चार्ल्स प्रथम की हत्या हुई, लेकिन सत्ता क्रामवेल के हाथ गई। सोवियत संघ में जार मारे गए लेकिन सत्ता स्टालिन जैसे तानाशाह के साथ गई। पड़ोसी बंगला देश में मुजीबुर्रहमान की हत्या से जियाउल हक नामक सैनिक तानाशाह ही निकला। हिंसक क्रांति में कुछ ही लोग भाग ले सकते हैं, अहिंसक क्रांति में तो बूढ़े-बच्चे, नर-नारी सभी भाग ले सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा की सीमा नहीं है।

गांधी की अहिंसा केवल हिंसा का निषेध नहीं करती, बल्कि अहिंसा के आध्यात्मिक एवं सामाजिक पक्षों पर भी

जोर देती है। गांधी अहिंसा को नीति नहीं—निष्ठा मानते थे। अतः अहिंसा उनके लिए न तो कमजोरी या विवशता थी, न अवसरवाद ही। हिंसा का वे इसलिए विरोध करते थे कि तात्कालिक एवं प्रकट रूप से यह भले ही फलप्रद दीखती है, लेकिन अंततोगत्वा यह सभ्यता-विनाशक ही है। हिंसा से जितना लाभ दीखता है, वह अल्पकालीन है। इसीलिए अहिंसा सबसे अधिक प्रभावशाली एवं सबसे कम समय में फल देने वाली है, क्योंकि यह सर्वसुनिश्चित है। अहिंसा सभ्यता की दृष्टि से भी एक श्रेष्ठता का प्रतीक है। यह सोचना कि हिंसा का निराकरण हिंसा से हो सकता है, एक गलत अवधारणा है। आज हमने देख लिया कि तालिबान की हिंसा का क्या हश्र हुआ एवं फिर अमरीका को हिरोशिमा एवं उसके बाद की हिंसा का क्या प्रतिफल मिला?

अहिंसा को निषेधात्मक या दुर्बलता का प्रतीक मानना ठीक नहीं, लेकिन अहिंसा का जो प्रचलित धार्मिक स्वरूप है, वह अपर्याप्त है। 5000 वर्षों से वेद, लगभग 3000 वर्षों से महावीर एवं बौद्ध, 2000 वर्षों से क्राइस्ट शांति एवं अहिंसा पर प्रवचन दे रहे हैं। किंतु धर्म के नाम पर हजारों युद्ध हो चुके। अभी भी मध्य-पूर्व एवं दक्षिण एशिया की समस्या के मूल में यहूदी-इस्लाम एवं इस्लाम-ईसाइयत एवं हिंदू-मुसलमान की समस्या है। लेकिन समस्या इससे भी गहरी है। धर्म के नाम पर जिस अहिंसा का प्रवचन होता है उसमें एकांगिता एवं बहुत दूर तक सांप्रदायिकता भी रहती है। इसलिए धर्मांतरण एवं दीक्षा आदि एक प्रकार का धार्मिक साम्राज्यवाद है। राजनीति में जैसे हम विश्व सरकार की बात को उछालते हैं, जिस प्रकार कमजोर ही सही, संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में विश्व सरकार का ढांचा बन गया है एवं इसकी विभिन्न एजेंसियों के द्वारा शिक्षा, स्वास्थ्य, श्रम, राहत आदि के काम हो रहे हैं, उस प्रकार धर्म का वैश्विक संगठन नहीं बना है। विश्वधर्म संसद एक अत्यंत कमजोर संस्था है एवं प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय का संगठन अधिक मजबूत एवं अधिक महत्त्वाकांक्षी है। स्वामी विवेकानन्द ने अवश्य ही विश्वधर्म का विचार रखा था, लेकिन गांधी-विनोबा के द्वारा सर्वधर्म समभाव के अलावा अन्य कहीं से सगुण रूप नहीं दीखता। यों गांधी का सर्वधर्म समभाव भी ज्यादा निर्गुण ही है। जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि धर्मों से जुड़े कई सांप्रदायिक संगठन भी तो उस दृष्टि से ही काम करते प्रतीत होते हैं। मंच पर भले कोई विश्वप्रेम की बात करें, लेकिन मूल में संप्रदायवाद के तत्त्व ही प्रायः उनकी धार्मिक संरचना में निहित रहते हैं। इस्लाम, ईसाइयत एवं बौद्ध धर्म के बीच समस्याएं इसलिए बढ़ रही हैं कि ये मूलरूप से विस्तारवादी हैं। हिंदुत्व को भी हमारे कुछ बड़े लोग उसी विस्तारवादी प्रवृत्ति में डालना चाहते हैं। यह गलत है।

अहिंसा के विस्तार के लिए उसे अध्यात्म का आधार होना ही चाहिए। बिना अध्यात्म के अहिंसा एक राजनीतिक आंदोलन हो सकता है, धर्म की जड़ें नहीं जम सकती हैं। सोचिए—राग-द्वेष, घृणा एवं दुर्भावनाहीन होना क्या आसान है? गांधी तो यदि जिंदा बच जाते तो गोडसे को भी प्राणदान दिलाते। यह न सामाजिक सिद्धांतवाद से संभव है न और किसी से। अहिंसा के लिए तीसरी बुनियाद है अहिंसक सामाजिक-आर्थिक संरचना जहां शोषण, विषमता कम से कम हो। यदि हत्या हिंसा है तो शोषण, मुनाफाखोरी, मिलावट, विषमता भी हिंसा ही हैं। गांधी ने इस पक्ष को केवल अधिक दर्शाया ही नहीं, इसका अपने जीवन एवं समाज में प्रयोग किया।

अहिंसा का चतुर्थ आयाम इसकी क्रियान्विति एवं सक्रियता में है। आज पांच हजार वर्षों से अहिंसा पर प्रवचन हो रहे हैं, लेकिन उनका प्रभाव इसलिए नहीं होता कि प्रवाचक अहिंसा के मूल्यों की रक्षा के लिए क्रियात्मक रूप से कुछ नहीं करते हैं, समाज में संरचनात्मक हिंसा को बढ़ने देते हैं। कर्म के बिना अहिंसा निष्प्राण है। अतः गांधी की तरह अपने जीवन में अहिंसा तो लाना ही चाहिए। उन्होंने अहिंसक राजनीति, अहिंसक अर्थनीति, अहिंसक शिक्षा आदि को फैलाने के लिए व्यावहारिक कदम उठाए, अहिंसा पर मात्र प्रवचन नहीं करते रहे। अन्याय के खिलाफ असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा, भारत छोड़ो आदि अनेक आंदोलनों में भाग लिया। यही नहीं, उन्होंने समाज परिवर्तन के लिए रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रयोग किया। शांति कायम करने के लिए उन्होंने शांति सेना का सेनापतित्व नोआखाली, बिहार आदि जगहों में जान की बाजी लगाकर भी किया। संक्षेप में अहिंसा उनके लिए केवल वैचारिक अनुष्ठान नहीं, जीवन की एक शैली एवं नित्यप्रति का व्यवहार था। अहिंसा उनके लिए केवल वैचारिक ही नहीं अपितु व्यावहारिक विज्ञान था। उनका जीवन ही उनका संदेश था। उन्होंने कहा ही था कि वे केवल द्रष्टा नहीं, व्यावहारिक आदर्शवादी भी थे। उनका उद्देश्य यह दिखाना था कि अहिंसा केवल ऋषियों एवं मुनियों के लिए नहीं, बल्कि सामान्यजनों के लिए भी है।

गांधी ने अहिंसा का जीवित प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में किया, जिस तरह का प्रयोग आधुनिक समय में किसी संत की ओर से न हो सका। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने

चंपारण, खेड़ा, बारडोली आदि जगहों में अन्याय के अहिंसक प्रतिकार का कार्य किया। उन्हीं के शिष्य खान अब्दुल गफ्फार खां ने खुदाई खिदमतगार की स्थापना कर सामूहिक अहिंसा का पाठ दिया। इन्हीं के दूसरे शिष्य विनोबा ने संपूर्ण भारत का दौरा कर भूमिहीनों के लिए 60 लाख एकड़ जमीन एकत्र की। मार्टिन लूथर किंग ने तो वर्णभेद को समाप्त करने के लिए अपनी शहादत ही दे दी। श्रीलंका में डॉ. आर्यरत्न रचनात्मक कार्यक्रम का छोर पकड़कर गांधी का सर्वोदय श्रमदान आंदोलन चला रहे हैं। भारत में भी सुदूर दक्षिण में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा झींगा मछलियों को पालने के लिए किसानों की जमीन की बर्बादी के खिलाफ श्री जगन्नाथनजी सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध कर रहे हैं। हिमालय में चिपको आंदोलन एवं निरामिष आहार से भी अधिक प्रभावशाली आंदोलन है जो वनस्पति जगत में हिंसा के खिलाफ है। नर्मदा के बांध के खिलाफ मेधा पाटकर एवं बाबा आमटे का पुरुषार्थ अहिंसा का सारणीय उदाहरण है। सर्व सेवा संघ बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खिलाफ गांधी के स्वदेशी एवं स्वावलंबन की लड़ाई लड़ रहा है। इसी प्रकार राजस्थान में राजेंद्रसिंह सभी जमीनों में जल एकत्र कर संघर्ष एवं संरचना को एक कर रहे हैं। संक्षेप में गांधी विचार में अहिंसा जीवित है एवं जीवित अहिंसा भी गांधी विचार में देखी जा सकती है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अनुभूति

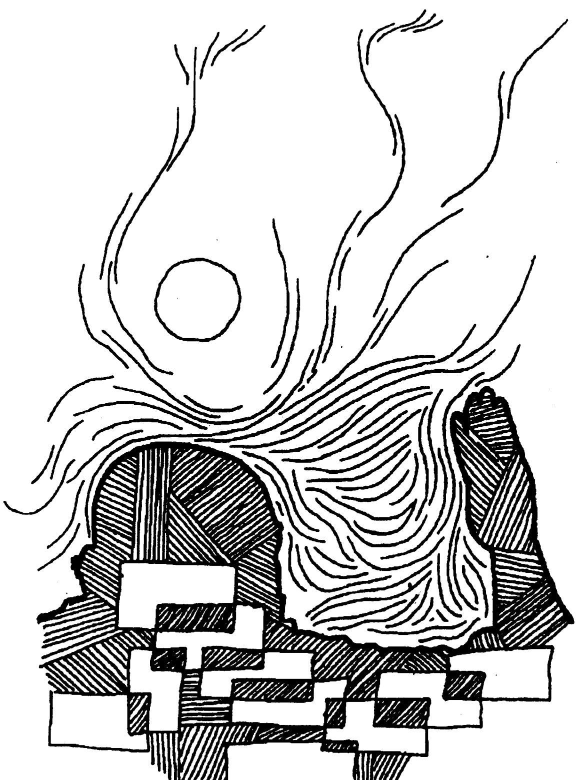

नरक! तुम्हारे भीतर है वह। वहीं
जहां से निःसृत पारमिता करुणा में
उसका अघ घुलता है—स्वयं नरक ही गल जाता है।
एक अहंता जहां जगी भवपाश बिछे, साम्राज्य बने—
प्राचीर नरक के वहीं खिंच गए :
जागी करुणा—मिटा नरक,
साम्राज्य ढहे, कट गए बंध,
आप्लावित ज्योति के कमलकोश में
मानव मुक्त हुआ!

हां स्मरण करो
अपने भीतर का पद्मकोश
सिंहासन पारमिता करुणा का :
दुख, अहंता का सागर
जिसके चरणों में खा पछाड़
हट-हट जाता है पीछे!

—अज्ञेय

क्षमता और पद की आकांक्षा—दोनों साथ-साथ जन्म लेते हैं। क्या यह हो सकता है कि क्षमता हो और पद की आकांक्षा न हो? संगठनों में यह हो पाना संभव प्रतीत नहीं होता और यह इसलिए भी नहीं हो सकता कि शिष्य बनने और आचार्य बनने की स्वतंत्रता हर किसी को है। यही बात ध्यान में रख आचार्य भिक्षु ने समस्या के मूल तक पहुंचकर एक व्यवस्था दी—तेरापंथ धर्मसंघ में कोई भी साधु अपना शिष्य नहीं बना सकेगा और आचार्यपद के लिए उम्मीदवार नहीं बन सकेगा।

❑ मर्यादा महोत्सव : अतीत-भविष्य का संगम

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन वांग्मय में भगवान महावीर को और बौद्ध शास्त्रों में भगवान बुद्ध को शास्ता कहा गया है। उनका शासन था, अतः वे उसके शास्ता कहलाए थे। धर्म की साधना का मूल बुनियादी तौर पर आत्मानुशासन है, किंतु जब साधना संघबद्ध होती है तब धर्मशासन के साथ अनुशासन भी जुड़ जाता है। अनुशासन, व्यवस्था और मर्यादा—ये सब संघबद्धता के अनिवार्य तत्त्व हैं।

संघबद्धता के अनिवार्य तत्त्व

इतिहास का यह अविस्मरणीय पृष्ठ है कि भगवान पार्श्व ने संघबद्ध साधना का सूत्रपात किया था। साधना और संघ—इन दोनों का योग अद्‌भुत है, पर संघबद्धता के प्रयोग ने यह प्रमाणित कर दिया कि क्षमता और दक्षता की कसौटी के लिए 'संघबद्धता' एक अवसर है। इस अवसर का लाभ अधिकाधिक व्यक्ति उठा सकते हैं। भगवान महावीर के युग में विशाल धर्मसंघ थे। उनके स्वयं के ही संघ में चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां थीं। आर्जीवकों, बौद्धों तथा अन्य श्रमणों के संघ भी बहुत विशाल थे। ये सभी भगवान महावीर-पार्श्व की परंपरा से प्रभावित थे।

अनुशासन के सूत्रधार : आचार्य भिक्षु

दशवैकालिक सूत्र का एक प्रसंग है। शिष्य ने पूछा—'भंते! आपदा किसका वरण करती है और संपदा किसे उपलब्ध होती है?' आचार्य ने उत्तर दिया—'आपदा उसका वरण करती है, जो अविनीत होता है और संपदा उसे उपलब्ध होती है जो विनीत होता है।' फिर प्रश्न हुआ—'अविनीत कौन है और विनीत कौन है?' आचार्य ने उत्तर दिया—'जो गुरु के अनुशासन को शिरोधार्य नहीं करता, वह अविनीत है और जो उसे शिरोधार्य करता है, वह विनीत होता है।' अनुशासन और विनय की ऐसी धारा के आधार पर धर्मसंघों ने बहुत विकास किया। इतिहास के अध्ययन और समीक्षा के द्वारा यह हम जान सकते हैं। विकास की उसी शृंखला की एक कड़ी है—तेरापंथ।

मर्यादा महोत्सव पर विशेष

तेरापंथ धर्मसंघ का प्रवर्तन दो सौ बियालीस वर्ष पूर्व हुआ था। उसके प्रवर्तक थे—आचार्य भिक्षु। उन्हें अनुशासन का सूत्रधार कहा जा सकता है। उनमें संगठन की भी अद्‌भुत क्षमता थी। वे केवल संगठनकार ही नहीं थे, किंतु उसके मंत्रदाता भी थे। उन्होंने संगठन के कुछ ऐसे मंत्र दिए, जो इस संघ की तीसरी शताब्दी में भी उतने ही उपयोगी रहेंगे और आज भी उतने ही मूल्यवान हैं।

अपकर्ष का लक्षण

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि संगठन का सबसे दुर्बल पक्ष पद की आकांक्षा है—क्षमता और पद की आकांक्षा—दोनों साथ-साथ जन्म लेते हैं। क्या यह हो सकता है कि क्षमता हो और पद की आकांक्षा न हो? संगठनों में यह हो पाना संभव प्रतीत नहीं होता और यह इसलिए भी नहीं हो सकता कि शिष्य बनने और आचार्य बनने की स्वतंत्रता हर किसी को है। यही बात ध्यान में रख आचार्य भिक्षु ने समस्या के मूल तक पहुंचकर एक व्यवस्था दी—'तेरापंथ धर्मसंघ में कोई भी साधु अपना शिष्य नहीं बना सकेगा और आचार्यपद के लिए उम्मीदवार नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार कोई भी साध्वी किसी को अपनी शिष्या नहीं बना सकेगी और वह आचार्यपद के लिए उम्मीदवार भी नहीं बन सकेगी।' यह व्यवस्था धर्मसंघों के इतिहास में एक नया मोड़ देने वाली सिद्ध हुई। इससे पद

की आकांक्षा पर नियंत्रण स्थापित हो गया। शिष्य ही नहीं बनाना तब आचार्य कैसे बना जा सकता है? इस व्यवस्था में आचार्यपद का उम्मीदवार बनना चरित्र के प्रकर्ष का नहीं, किंतु अपकर्ष का लक्षण बन गया। कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि वह दूसरों के सामने अपने चरित्र के अपकर्ष का प्रदर्शन करे। इसलिए कोई भी व्यक्ति अपने-आपको आचार्यपद का उम्मीदवार नहीं बतलाता।

संघे शक्तिः कली युगे

कलियुग में संघ में शक्ति होती है—'संघे शक्तिः कली युगे'—यह एक सूक्त है। कलियुग हो या सतयुग—शक्ति संघ में ही होगी। जो शक्ति संगठन में होती है, वह अकेले में नहीं हो सकती। अकेला व्यक्ति धर्म की साधना कर सकता है, यदि वह प्रबुद्ध, धृतिमान और स्वस्थचेता हो, किंतु वह धर्म की परंपरा का संवाहक नहीं बन सकता। उसका संवहन कोई संगठन ही कर सकता है। संगठन एक धारा है। उसका प्रवाह सुदूर देश और काल को सिंचन दे सकता है। एक जलकण यह काम नहीं कर सकता।

इस प्रकार शिष्य बनाने और आचार्य की नियुक्ति—ये दोनों अधिकार आचार्य के ही हाथ में सुरक्षित हैं। संघ में दीक्षित सभी साधु-साध्वियां एक ही आचार्य के शिष्य होते हैं और भावी आचार्य का निर्वाचन वर्तमान आचार्य ही करते हैं। इस व्यवस्था ने संघ को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होने से रोक दिया।

एकता का आधार

वैसे तो आचार्य भिक्षु बहुत बड़े आध्यात्मिक संत थे, फिर भी संगठन को जितनी मूल्यवत्ता उन्होंने प्रदान की, विगत सहस्राब्दियों में कम ही आचार्यों ने ऐसा किया हो। उन्होंने देखा—संगठन छोटे-छोटे टुकड़ों में तभी विभक्त होता है जब साधु-साध्वियों में पद की आकांक्षा जागती है और उनके अनुयायी उनकी आकांक्षा को पूरा करने में सहयोग करते हैं। जैसे एक साधु संघ से पृथक होता है और कुछ अनुयायी उसे समर्थन दे देते हैं। इस प्रकार की स्थिति में साधुओं को संघ से टूटकर किसी पद पर प्रतिष्ठित होने और संगठन को छिन्न-भिन्न करने का अवसर मिल जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने एक व्यवस्था दी कि संघ से पृथक होने वाले व्यक्ति को संघ के सदस्य साधु न मानें और अपना समर्थन न दें। यह व्यवस्था-सूत्र संघ की एकता का सुदृढ़ आधार बन गया। समय-समय पर संघ से साधु पृथक होते रहे हैं, उनमें कुछ साधु क्षमताशील भी रहे हैं। उन्होंने स्वतंत्र संघ की स्थापना का प्रयत्न भी किया, पर वे सफल नहीं हो सके। इसका कारण उक्त व्यवस्था का संस्कार ही है। यहां यह बात भी ध्यान में रखने की है कि यदि श्रावक समाज में भी ऐसे ही संस्कार नहीं होते तो भी स्थिति कुछ भिन्न ही होती।

मर्यादा महोत्सव

आचार्य भिक्षु का यह दृष्टिकोण था कि संघ शक्तिशाली रहे। उसमें एकता बनी रहे। उसे कोई छोटे-छोटे खंडों में विभक्त न करे। इसी भावना को उन्होंने मर्यादा का रूप दिया। इस मर्यादा को तेरापंथ के संविधान की केंद्रीय मर्यादा कहा जा सकता है। शेष सब मर्यादाएं इसी की परिधि में हैं।

आचार्य भिक्षु ने समय-समय पर कई लेख लिखे। सबसे पहला लेख वि. सं. 1832 में लिखा और अंतिम लेख वि. सं. 1859 में लिखा गया। उनके इन्हीं लेखों का संकलन-आकलन तेरापंथ का संविधान बन गया। वि. सं. 1859 का लेख माघ शुक्ला 7, शनिवार को लिखा गया था। अतः तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने इसी दिन को मर्यादा महोत्सव दिवस का रूप दे दिया। तब से प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव आयोजित होता है। इसकी स्थापना वि. सं. 1920 में हुई थी।

आज तेरापंथ एक सुसंगठित और सुअनुशासित धर्मसंघ है। इसका मुख्य आधार यही है कि इसने व्यवस्था और मर्यादा को प्रधानता दी है। मर्यादा महोत्सव मर्यादा का प्रतीक है और वह तेरापंथ के नए वर्ष का आदि-दिन भी है। इस दिन मर्यादा-पत्र का वाचन होता है और समूचा संघ आचार्य भिक्षुकृत मर्यादाओं के प्रति अपनी आस्था प्रकट करता है। इसी दिन साधु-साध्वियों के भावी चतुर्मासों की घोषणा होती है।

मर्यादा महोत्सव के कार्यक्रम

मर्यादा महोत्सव की पृष्ठभूमि चतुर्मास संपन्न होते ही बननी शुरू हो जाती है। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को चतुर्मास संपन्न हो जाता है। मृगसर कृष्णा प्रतिपदा को साधु-साध्वियां चातुर्मासिक प्रवास स्थान से विहार करते हैं। आज्ञानुसार उन सबका विहार आचार्यश्री के प्रवास की दिशा में होता है। जहां आचार्य होते हैं, वहीं सबके लिए आना अनिवार्य है। व्यवस्था यह है कि आते समय वे एक गांव में एक रात से ज्यादा नहीं रुकते। आचार्य का आदेश या विशेष परिस्थितिवश ही वे कहीं रुक सकते हैं। मर्यादा महोत्सव के समय अधिकाधिक साधु-साध्वियां एकत्र हो जाते हैं। वे आचार्य के पास आते ही सबसे पहले अपने

समर्पण का सूत्र उच्चारित करते हैं। उसके बाद वे विगत-वर्ष का कार्य-विवरण (रिपोर्ट) आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। आचार्य उनका निरीक्षण करते हैं। आचार, व्यवहार, अनुशासन और व्यवस्था में कहीं कोई त्रुटि मालूम देती है तो उसका उपचार करते हैं।

इसी अवधि में साधु-साध्वियों की सामूहिक अंत:परिषदें होती हैं। उनमें कभी स्वाध्याय, कभी चिंतन और कभी विमर्श होता है। कुछ गोष्ठियां होती हैं, उनमें सामयिक समस्याओं का समाधान खोजा जाता है और आचार्य के द्वारा उस समाधान की सामूहिक परिषद् में घोषणा की जाती है। साधु-साध्वियां अपनी यात्रा के संस्मरण सुनाते हैं और विचारों का विनिमय होता है। समय-समय पर आचार्य सामूहिक परिषद् को पथ-दर्शन देते हैं तथा व्यवस्था के प्रति सावधान भी करते हैं। इस प्रकार मर्यादा महोत्सव का यह पूरा काल विविध कार्यक्रमों से संकुल बीतता है।

अतीत और भविष्य का संधि-स्थल

साधु-साध्वियों के विहार और चातुर्मास का निर्णय स्वयं आचार्यश्री ही करते हैं। कौन व्यक्ति किस दिशा में विहार करेगा या कहां चातुर्मास करेगा—इसका पता मात्र आचार्य को होता है। वे मर्यादा महोत्सव के अवसर पर नामोल्लेखपूर्वक घोषणा करते हैं और साधु-साध्वियां उसे विनम्रतापूर्वक शिरोधार्य करते चले जाते हैं। अनुशासन, विनय और समर्पण की दृष्टि से यह दृश्य अनूठा होता है। माघ शुक्ला सप्तमी के बाद फिर साधु-साध्वियों के प्रस्थान का क्रम शुरू हो जाता है। वे आचार्य के आदेशानुसार विभिन्न क्षेत्रों में अपनी यात्रा शुरू कर देते हैं। पदयात्रा करते हुए कुछ महीनों में ही प्रायः सभी प्रांतों में पहुंच जाते हैं। कुछ साधु-साध्वियों ने नेपाल और भूटान की भी पदयात्राएं की हैं। इस प्रकार अतीत और भविष्य के संधि-स्थल के रूप में मर्यादा महोत्सव वर्तमान की भूमिका निभाता है। यह गत वर्ष की अर्जित शक्ति का समर्पण लेता है और भविष्य की शक्ति का अनुदान देता है। इस महापर्व को हम महाप्राण के रूप में स्वीकार करते हैं और यह आशंसा करते हैं कि अनुशासन की भावना राष्ट्र के कण-कण में व्याप्त हो।

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण का पर्व

आचार्य भिक्षु 'हृदय-परिवर्तन सिद्धांत' के उद्गाता थे। उन्होंने कहा—'बलप्रयोग से धर्म नहीं करवाया जा सकता। सामने वाले व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन होने पर ही धर्म संभव बनता है।' बहुत लंबी अवधि से धर्म के साथ प्रलोभन और भय जुड़े हुए थे। आचार्य भिक्षु ने इन दोनों को धर्म से पृथक कर दिया, उनका हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत प्रतिष्ठित होता चला गया।

उस हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत की प्राणप्रतिष्ठा करने वाले थे—जयाचार्य। उनकी मनोवैज्ञानिक पहुंच ने साधु-संघ के मानस को छू लिया। केवल आदेश के आधार पर अनुशासन चलता तो लंबे समय तक चल नहीं पाता। उसकी प्रतिक्रिया होती। फलस्वरूप अनुशासन के प्रति विद्रोह उठ खड़ा होता।

जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन को केंद्र में रखकर विशाल साहित्य रचा। उसके बार-बार अध्ययन-मनन, वाचन और श्रवण से धीरे-धीरे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण होता चला गया। मर्यादा महोत्सव उसी 'मस्तिष्क प्रशिक्षण साधना' का पर्व है।

मस्तिष्क प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण सूत्र : धारणा

आचार्य भिक्षु और जयाचार्य—दोनों मस्तिष्क प्रशिक्षण की कला में बहुत कुशल थे। उन्होंने आचार्य की आज्ञा को भगवान की आज्ञा बतलाया। आचार्य को भगवान के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य की आज्ञा मानने वाला विनीत होता है और संघ का भार उसकी भुजा पर टिका होता है। आचार्य की आज्ञा को न मानने वाला अविनीत होता है। वह संघ के लिए भार बनता है।

मस्तिष्क के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—धारणा। विनीत और अविनीत की अवधारणा द्वारा अनुशासन की प्राणप्रतिष्ठा हो गई। तेरापंथ का प्रत्येक साधु विनीत कहलाना चाहता है। अविनीत कहलाना—अवज्ञा, तिरस्कार या दंड भोगने जैसा लगता है। जब-जब मुनि खेतसीजी, मुनि हेमराजजी आदि-आदि साधुओं की विनम्रता की गौरवगाथाएं गाई जाती हैं, तब-तब मस्तिष्क का प्रत्येक तार झंकृत हो जाता है। प्रत्येक साधु-साध्वी के मन में विनीत बनने की एक ललक पैदा होती है। विनीत की अवधारणा और मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की परंपरा को चालू रखने का महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है—मर्यादा महोत्सव। उसके लिए सर्वत्र प्रस्फुटित होता है—अभिनंदन का स्वर। ❖

जो शक्ति के बल पर विजय प्राप्त करता है, वह अपने शत्रु पर अपूर्ण विजय ही प्राप्त कर पाता है।

—मिल्टन

साधना का सीधा संबंध व्यक्ति की वृत्तियों से है। वृत्तिशोधन की प्रक्रिया जब तक व्यावहारिक रूप नहीं लेती है, साधना का अपेक्षित विकास नहीं हो सकता। हम चाहते हैं कि अग्रिम वर्ष में समय-समय पर ऐसे प्रशिक्षण कक्षों का आयोजन हो, जिनमें वृत्ति-सुधार का सक्रिय प्रशिक्षण प्राप्त हो सके। अहंकार, ममकार, उत्तेजना, छलना, ईर्ष्या, आलोचना, अनुकरणशीलता, प्रदर्शन, मिथ्या दोषारोपण, अपना दोष छिपाना, महत्त्वाकांक्षा, हीनता, भय आदि वृत्तियां साधना के मार्ग में बहुत बड़ी बाधाएं हैं। शताब्दियों और सहस्राब्दियों से इनके निराकरण का उपदेश मिल रहा है, किंतु मानवीय चेतना पर आज़ भी इनका तीव्रतर प्रभाव है।

❑ तेरापंथ : आत्माभिमुखता का केंद्र

✍ आचार्यश्री तुलसी

तेरापंथ संघ की प्रगति में साधकों की आत्माभिमुखता के साथ-साथ मर्यादाओं और व्यवस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। तेरापंथ संघ का स्वर्णिम इतिहास मर्यादाओं के परिप्रेक्ष्य में ही जीवंत रह पाया है। आचार्य भिक्षु की मेधा ने संघ को जो सशक्त आलंबन दिया, उसे और अधिक सुदृढ़ करने और संवारने का श्रेय श्रीमज्जयाचार्य को है। आचार्य भिक्षु, उनके दर्शन और चिंतन के श्रीमज्जयाचार्य सफल भाष्यकार थे। उन्होंने अपने जीवन में संघ के अभ्युदय के लिए जो कुछ किया, वह इतिहास की अविस्मरणीय घटना है।

वि. सं. 1817 तेरापंथ संघ का आविर्भावकाल है। तब से आज तक संघ में जो उपलब्धियां हुई हैं, उनका मूल आधार वे मर्यादाएं हैं, जो विगत दशकों में निर्मित हुई थीं। आचार्य भिक्षु ने पहला मर्यादा-पत्र वि. सं. 1832 में लिखा और अंतिम मर्यादा-पत्र 1859 में। अंतिम मर्यादा-पत्र में पूर्व निर्मित विशिष्ट मर्यादाओं का संकलन भी है। यही पत्र मर्यादा-महोत्सव का प्राण है। आचार्यश्री भिक्षु द्वारा उनके हाथों से लिपिबद्ध वह पत्र शासन का छत्र है। इसकी छाया में सैकड़ों साधु-साध्वियां आनंद और उल्लास के साथ अपनी जीवन-यात्रा पूरी कर रहे हैं।

138वां मर्यादा महोत्सव

आचार्य भिक्षु के उत्तरवर्ती आचार्यों ने संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन, नवीनीकरण आदि के रूप में अनेक पूरक मर्यादाओं का सृजन किया। व्यवस्थामूलक मर्यादाओं के सृजन में श्रीमज्जयाचार्य ने बहुत दक्षता का परिचय दिया। उनकी प्रतिभा ने व्यक्ति-चेतना और समूह-चेतना के ऊर्ध्वारोहण में बाधक तत्त्वों को सूक्ष्मता से पहचाना तथा उनका निराकरण भी किया।

परिवर्तन के कोण

वर्तमान को सदैव अतीत का आभारी होना चाहिए। हम भी अपने पूर्वाचार्यों के बहुत-बहुत ऋणी हैं, जिन्होंने हमको ऐसा सुव्यवस्थित, सुसंगठित धर्मसंघ दिया—जो सत्य, शिव एवं सौंदर्य को उपलब्ध करने की समन्वित प्रक्रिया है। तेरापंथ संघ के द्विशताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में हमें भी उन समस्त मर्यादाओं के पुनरावलोकन की अपेक्षा महसूस हुई, दो सौ वर्षों की लंबी अवधि, वर्तमान का परिप्रेक्ष्य और साधु-साध्वियों का परिवर्तित मान-सहन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर चिंतन किया गया। फिर भी आचार्य भिक्षु की मौलिक मर्यादाओं में परिवर्तन करने की अपेक्षा प्रतीत नहीं हुई। कुछ ऐसी मर्यादाएं, जो अब कृतार्थ हो गईं, वे इतिहास के लिए सुरक्षित रख दी गईं। कुछ मर्यादाओं में यथावश्यक संशोधन किया गया और कुछ नई मर्यादाओं का निर्माण।

गण-विसर्जन

संशोधन और निर्माण के इस क्रम में सर्वाधिक उल्लेखनीय है—सामयिक समस्याओं को सुलझाने के लिए की गई विधियों के निर्माण और कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में होने वाले विशिष्ट व्यवहारों के प्रयोग। जैसे—विशिष्ट साधना और विशिष्ट चिकित्सा के संदर्भ में गण-व्युत्सर्ग का प्रयोग। यद्यपि यह योग नया नहीं है। प्राचीन काल में उक्त दोनों दृष्टियों से यह प्रचलित था, किंतु मध्यकाल में

साधना की दृष्टि से गण-व्युत्सर्ग करने की पद्धति छूट गई। क्योंकि यह मान लिया गया कि इस समय में जिनकल्प, यथालंदिक और प्रतिमाधर की भूमिकाएं विच्छिन्न हो गईं। इस धारणा से साधना के लिए विशिष्ट प्रयोग करने और उनके निमित्त गण-व्युत्सर्ग करने की बात आगमिक होते हुए भी व्यवहार से दूर हो गई।

चिकित्सा की दृष्टि से भी गण-व्युत्सर्ग करने का व्यवहार नहीं रहा। कोई मुनि चिकित्सा न कराए, यह बहुत अच्छी बात है। दवा लेना आवश्यक नहीं है, एक प्रकार की धृति-दुर्बलता ही है, किंतु जो मुनि रोग को सहन नहीं कर सकता या रोग की स्थिति में साधु-जीवन चलाने में कठिनाई महसूस करता है वह दवा लेता है। इसी प्रकार कोई शल्य चिकित्सा न कराए, यह बहुत अच्छी बात है। किंतु जब एक ओर संयम जीवन की सुरक्षा का प्रश्न हो, दूसरी ओर धृति-दुर्बलता के कारण शल्य-चिकित्सा कराने की बाध्यता आ जाए, तब संयमी जीवन को न छोड़ते हुए शल्य-चिकित्सा जैसे अपवाद का सेवन करें तो उस स्थिति में गण-व्युत्सर्ग करने तक की बात आ सकती है।

पहली दृष्टि से किया जाने वाला गण-व्युत्सर्ग साधना का एक विशिष्ट प्रयोग है। दूसरी दृष्टि से किया जाने वाला गण-व्युत्सर्ग प्रमाद का सेवन है। दोनों का हेतु एक नहीं है, फिर भी ये दोनों स्थितियां गण-व्युत्सर्ग की हेतु रही हैं। इनके वर्तमान रूप को नया या प्राचीन परंपरा का आधुनिक प्रयोग कहा जा सकता है।

तटस्थता की नीति

संशोधन और परिवर्तन की नीति के साथ कुछ विषयों में हमने तटस्थता की नीति अपनाई है। फोटो, टेपरिकार्डिंग, बिजली आदि कुछ ऐसे विषय हैं। गृहस्थ अपने प्रयोजनों से इनका प्रयोग करता है, उसमें साधु तटस्थ रहे तो कोई दोष प्रतीत नहीं होता। तटस्थता की नीति से मेरा अभिप्राय है निषेध और अनुमोदन। इस द्वंद्व से बचकर अप्रमत्त भाव से व्यवहार करने की नीति।

प्रमादवश कुछ भूलें हो जाना असंभव नहीं है। भूल का समर्थन भी नहीं किया जाना चाहिए। यदि इन कार्यों में साधु की प्रेरणा या लगाव हो तो वह वांछनीय नहीं है। इसके साथ-साथ यह मानकर भी नहीं बैठना चाहिए कि इन कार्यों में प्रेरणा या लगाव हुए बिना कोई रह ही नहीं सकता। व्यवहार की ऐसी अनेक प्रवृत्तियां हैं, जिनसे साधु को तटस्थ रहना जरूरी होता है—समर्थन और निषेध इन दोनों से बच कर अपनी स्थिति में रहना होता है। इस प्रकार के प्राचीन उदाहरणों की भी कमी रही है।

माइक का प्रयोग मुख्यतः सुनने वालों की उपयोगिता है। साधु इस पर बोले तो उसमें भी पूरी तटस्थता बरतनी होती है। उसका निषेध न करे तो उसकी प्रेरणा भी नहीं करनी चाहिए। निषेध और प्रेरणा के बीच का रास्ता अवश्य ही बहुत संकरा है। किंतु उस पर चला नहीं जा सकता, ऐसा नहीं माना जा सकता।

उक्त प्रवृत्तियों में मुनि निमित्त बनता है और निमित्त बनने से बचना देह धारण और व्यवहार की स्थिति में संभव भी कहां है? यदि मुनि उन प्रवृत्तियों में लिप्त न हो तो वह उनकी आसक्ति से अपने-आपको बचा सकता है।

नव-निर्माण की अपेक्षाएं

संघीय विकास के दो पहलू हैं—परिवर्तन और निर्माण। देश, काल के अनुसार सामयिक मर्यादाओं, व्यवस्थाओं और नियमों में जैसे कुछ परिवर्तन करना होता है, वैसे ही कुछ नव निर्माण करना भी अपेक्षित होता है। नव निर्माण के लिए सृजनात्मक बुद्धि और शक्ति का होना जरूरी है। इनकी अपेक्षा प्राचीनकाल में भी रही है और वर्तमान में भी है। संघ के साधु-साध्वियों से यह अपेक्षा रखना स्वाभाविक है। इसमें संघीय अभ्युदय और वैयक्तिक साधना का विकास दोनों अंतर्निहित हैं। इस दृष्टि से करणीय और चिंतनीय मुख्य कार्य हैं—

1. साधना के नए-नए आयामों का उद्घाटन।
2. वृत्ति शोधन की दृष्टि से प्रशिक्षण कक्ष।
3. कला, शिक्षा, प्रचार-प्रक्रिया आदि-आदि के विषय में साधना के संदर्भ में पुनर्चिंतन।
4. शासन-मुक्त साधु संघ की संरचना।
5. उपासकों और साधकों का निर्माण।

साधना का मूल संबंध व्यक्ति से है। व्यक्ति चेतना का विकास ही साधना का विकास है। संघ इस विकास में बहुत सहायक हो सकता है और संघबद्धता में साधना रूढ़ न हो जाए इसलिए उसकी नई दिशाओं को खोजना आवश्यक है। साधना के विविध प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर कोई विशिष्ट क्रम बनाया जा सकता है। गणमुक्त साधना पद्धति का निर्धारण करते समय हमारे सामने यही चिंतन रहा।

साधना का सीधा संबंध व्यक्ति की वृत्तियों से है। वृत्तिशोधन की प्रक्रिया जब तक व्यावहारिक रूप नहीं लेती है, साधना का अपेक्षित विकास नहीं हो सकता। हम चाहते हैं कि अग्रिम वर्ष में समय-समय पर ऐसे प्रशिक्षण कक्षों का

आयोजन हो, जिनमें वृत्ति-सुधार का सक्रिय प्रशिक्षण प्राप्त हो सके। अहंकार, ममकार, उत्तेजना, छलना, ईर्ष्या, आलोचना, अनुकरणशीलता, प्रदर्शन, मिथ्या दोषारोपण, अपना दोष छिपाना, महत्त्वाकांक्षा, हीनता, भय आदि वृत्तियां साधना के मार्ग में बहुत बड़ी बाधाएं हैं। शताब्दियों और सहस्राब्दियों से इनके निराकरण का उपदेश मिल रहा है, किंतु मानवीय चेतना पर आज भी इनका तीव्रतर प्रभाव है।

साधना के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोगों के बाद हमारे मन में एक गहरी तड़प जगी है कि हम अपने श्रमण संघ और श्रावक समाज को वृत्तियों के उदात्तीकरण की प्रेरणा दें। शाब्दिक प्रेरणा की अपेक्षा प्रायोगिक प्रेरणा अधिक कार्यकर होती है। इस दृष्टि से ऐसे प्रशिक्षण कक्ष आयोजित करने हैं, जिनमें आसन, ध्यान, प्राणायाम, जप और चिंतन के माध्यम से मानस प्रबुद्ध हो सके। बहुत-सी अनीप्सित वृत्तियां अप्रबुद्ध मानस में पनपती हैं। प्रबुद्ध मानस और जागृति-विवेक के माध्यम से वृत्तियों का विशदीकरण सहज ही हो जाता है।

साधना के विभिन्न पक्ष हैं। संघ व्यवस्था और कर्म-निर्जरण की दृष्टि से सेवा, स्वाध्याय, प्रवचन, ध्यान, साहित्य-सृजन, यात्रा आदि सब साधना के अंग हैं। हमारे धर्मसंघ में इन सब प्रवृत्तियों को महत्त्व प्राप्त है। कुछ साधु-साध्वियां अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ भी हैं। अधिकांश साधु-साध्वियां एक निश्चित विषय में विशेष प्रगति करें और सामान्य रूप से हर विषय में प्रवेश करें।

शासनमुक्त आत्मानुशासन-प्रधान साधु-संघ का निर्माण मेरा अत्यंत प्रिय स्वप्न है। इस स्वप्न को साकार देखने में अभी समय लगेगा, यह मैं अनुभव कर रहा हूं। क्योंकि यह कार्य बहुत प्रयत्नसाध्य है। फिर भी इस बात में मेरा दृढ़ विश्वास है कि अध्यात्मनिष्ठ साधकों के संघ में बाह्य अनुशासन कम-से-कम रहना चाहिए। संघ के आचार्य मात्र प्रतीक के रूप में रहें। हर साधक आत्माभिमुखता और विवेक-जागरण से अपनी साधना में आगे बढ़ता रहे। जहां कहीं गति स्खलित होती हो, आचार्य का निर्देश उसका आलंबन बने। आत्मानुशासन का अपेक्षित विकास इस स्थिति के निर्माण में सहयोगी बन सकता है।

भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी (इस वर्ष सन् 2002 भगवान महावीर का 2600 वां जयंती वर्ष है) के उपलक्ष्य में साधकों और उपासकों की एक महत्त्वपूर्ण श्रेणी का निर्माण अत्यंत आवश्यक, युगीन और महत्त्वपूर्ण है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए श्रावक समाज को तैयार होना है।

मर्यादाएं आत्मारोहण के लिए सोपान-स्वरूप हैं। आत्मारोहण के बाद हर मर्यादा अपने-आपमें कृतार्थ हो जाती है। किंतु जब तक यह स्थिति नहीं बनती है, मर्यादाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सूर्य के उदित होने पर विद्युत या दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, पर रात्रि के अंधकार में मार्ग-दर्शक वही बनता है। क्या उसकी उपेक्षा की जा सकती है? ❖

जैन भारती
का अगला अंक होगा
विशेषांक

जैन भारती का आगामी अंक संयुक्तांक होगा और अप्रैल 2002 के आखिर में हम आप तक पहुंच पाएंगे। हम अपने सहृदय पाठकों का साधुवाद करते हैं कि उन्हें इस 'नैतिक-आध्यात्मिक मासिकी' की हर माह प्रतीक्षा रहती है।

विशेषांक के साथ 'जैन भारती' की दस्तक अब आपके द्वार अप्रैल माह में।

—सं.]

उनका अध्यात्म-दर्शन मन और विचारों को बदलने की प्रक्रिया में ही केवल नहीं अटकता, उनका ध्येय है विचार से निर्विचार एवं मन से अमन की स्थिति तक पहुंचना। 'किसने कहा मन चंचल है', 'मन का कायाकल्प', 'अमूर्त्तचिंतन', 'आभा मंडल', 'अध्यात्म विद्या'—ये उनके अध्यात्म-दर्शन के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं, जो मन की सीमा के पार प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वार उद्घाटित कर सकते हैं।

❑ समत्व योग की चिन्मय मूरत

✍ साध्वी कनकश्री

अहमदाबाद (गुजरात) की एक प्रबुद्ध महिला ज्योति बहन प्रेक्षाध्यान शिविर (लाडनूं) से लौटी थी। बात-बात में मेरा उनसे एक प्रश्न था—'अच्छा! (तब के) युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के बारे में अपनी प्रतिक्रिया?'—'वे तो साक्षात् वीतराग हैं'—ज्योति बहन ने भाव-विभोर होकर कहा। 'साध्वीजी! मैंने सुबह से शाम तक सलक्ष्य महाप्रज्ञश्री की मुखमुद्रा को पढ़ने की चेष्टा की। अलौकिक संत हैं वे। उनकी आकृति पर न कोई उतार-चढ़ाव, न हर्ष-विषाद, न प्रियता-अप्रियता की रेखाएं, न कोई प्रतिक्रिया। समत्वयोग में प्रतिष्ठित उनकी चिन्मई चेतना तो उस विशद-आकाश के समान है, जो न सर्दी से प्रभावित होता है, न गर्मी से तपता है और न वर्षा में भीगता है।'

महाप्रज्ञ पदाभिरोहण
एवं
दीक्षा दिवस (युवा दिवस) पर विशेष

यह प्रतिक्रिया अकेली ज्योति बहन की नहीं, अनेक जनों का अनुभव यही है कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे अकषायी, वीतराग कल्प व्यक्तित्व मुश्किल से ही मिलते हैं। गुरुनानक साहब ने तो ऐसे महापुरुषों को भगवान का प्रतिरूप माना है—

'सुख-दुख जेह फरसै नहीं, लोभ मोह अभिमान।
कहु नानक सुण रे मना, सो मूरत भगवान।'

भगवत्स्वरूप को परिभाषित करते हुए ग्रंथकार लिखते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्ययशसः श्रियः।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतींगता।।'

(विष्णु पुराण 65, 47)

भग का अर्थ है—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। जिनका इन छहों पर स्वामित्व होता है, वे साक्षात् भगवान होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का व्यक्तित्व इन्हीं विलक्षणताओं का अनूठा समवाय है।

वे विश्व के महान दार्शनिक संत हैं, एक महान धार्मिक संगठन के अधिनायक हैं, लाखों श्रद्धालुओं की आस्था के केंद्र हैं, अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त मौलिक चिंतक, महान लेखक और महान ज्ञानी हैं, फिर भी बड़प्पन या प्रदर्शन की भावना उन्हें छू भी नहीं पाई है। जब वे तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित हुए और आचार्यश्री तुलसी के संरक्षण, मार्ग-दर्शन में शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त कर संघ के क्षितिज पर एक अप्रतिम प्रतिभावान मेधावी मुनि के रूप में चमके, बस वहीं से उनकी अविराम प्रज्ञा की यात्रा प्रारंभ हुई। उसके पश्चात् निकाय सचिव, जैनयोग के पुनरुद्धारक, महाप्रज्ञ, युवाचार्य, आचार्यश्री महाप्रज्ञ, युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ जैसे सम्मान व संबोधनों से अलंकृत हुए। अलंकरण और पद-विभूषण ही उनके कारण प्रतिष्ठित हुए हों जैसे—उनके व्यवहार में इन अलंकरणों से कहीं कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता। महत्ता के शिखर पर प्रतिष्ठित इस असाधारण संत पुरुष का वही साधारण रहन-सहन, वही सहजता, वही सरलता, छोटा हो या बड़ा—सबके प्रति अकृत्रिम आत्मीयता। पद की भूख और ज्ञान का अहं क्या होता है? लगता है इस आत्मद्रष्टा ऋषि ने कभी जाना ही नहीं है।

मुनि अवस्था में महाप्रज्ञजी की अध्ययनशीलता, उभरती प्रखर प्रतिभा और प्रभावी व्यक्तित्व को देखकर, संघ के वयोवृद्ध, अनुभव-समृद्ध मंत्री मुनि ने एक बार कहा—'अपने ज्ञान और गुरुकृपा का कभी अहं मत करना।' महाप्रज्ञजी ने इस शिक्षासूत्र को जीवन का मंत्र बना लिया। वे कहते हैं—'मैंने ज्ञान और प्रज्ञा को बढ़ाया, पर अहं को कभी

पास भी नहीं आने दिया। मैंने गुरु का असीम अनुग्रह और वात्सल्य प्राप्त किया पर उसका गर्व कभी नहीं किया।' ये हैं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की विकास यात्रा के मौलिक मंत्र, जो करोड़ों विद्यार्थियों के लिए प्रेरणास्रोत बन सकते हैं।

विचारशुद्धि के प्रयोक्ता-प्रवक्ता

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उत्कृष्ट कोटि के ध्यान योगी हैं। जागृतप्रज्ञा के स्वामी हैं। प्रज्ञा का अर्थ है अंतर्दृष्टि, अतींद्रियज्ञान और समत्व दृष्टि। प्रज्ञा की आंख या समता की आंख तब खुलती है, जब चित्त के मलों का निष्कासन हो जाता है। इसके लिए विचारों का शोधन/परिष्कार करना होता है। महाप्रज्ञजी कहते हैं—'मैंने किशोरावस्था में एक संकल्प किया था कि मैं अपने विचारों को पवित्र रखूंगा। मैं किसी के बारे में बुरा नहीं सोचूंगा।' उन्हें उस समय भी यह रहस्य ज्ञात था कि निषेधात्मक विचार व्यक्ति को दुर्बल बनाते हैं तथा विधायक भाव व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाते हैं।

आज वैचारिक प्रदूषण सर्वाधिक खतरनाक सिद्ध हो रहा है। समूचे विश्व में हिंसा और अपराध बढ़ रहे हैं, यह वैचारिक प्रदूषण की ही उपज है। आणविक प्रयोग-परीक्षण की विषाक्तता समूचे जैव-मंडल को प्रभावित कर रही है, पर्यावरण को क्षति पहुंचा रही है—यह वैज्ञानिक जगत में गंभीर चिंता का विषय बना हुआ है। लेकिन वातावरण की विषाक्तता से भी गंभीर खतरा है—क्या सामूहिक विचार-तंत्र में घुस आई अवांछनीयता या मलिनता की भरमार नहीं है? पर्यावरणविद्, समाजशास्त्री तथा सभी प्रबुद्ध जन इस बात से चिंतित हैं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच बढ़ रही कटुता को कैसे रोका जाए? आपसी स्नेह, सौजन्य और सद्भाव कैसे स्थापित किया जाए? व्यक्ति और पर्यावरण के बीच संतुलन कैसे निर्मित किया जाए? इस विषय में यह सब एकमत से स्वीकार किया जा रहा है कि मनुष्य को अपने सोचने-समझने का तरीका बदलना होगा।

पिछले दिनों कनाडा में 'पर्यावरण और मानवीय सोच' विषय पर एक सम्मेलन आयोजित किया गया था। उसमें संसार-भर के मूर्धन्य वैज्ञानिकों और विचारकों ने भाग लिया था। मानवी-प्रकृति का विश्लेषण करते हुए वहां कहा गया कि निरंतर बढ़ रहा वैचारिक प्रदूषण मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा बनता जा रहा है। मनुष्य के मस्तिष्क से निकलने वाली तरंगों के विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों के आधार पर उस संगोष्ठी में इस बात पर विशेष जोर दिया गया कि मनुष्य को अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना है तो अपने विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना होगा।

भौतिकवादी विचारों तथा निषेधात्मक चिंतन ने ही आणविक हथियारों को जन्म दिया है। इसी से मनुष्यता के सामने संकट की स्थिति उत्पन्न हुई है। इसलिए विचार की प्रक्रिया में बदलाव लाना अत्यंत अपेक्षित है। परिशोधित विचारों के विकास से हृदय की पवित्रता सिद्ध होती है। दुर्भावनाओं से मुक्ति मिलती है। मनुष्य के उत्कृष्ट, परिष्कृत एवं विकसित व्यक्तित्व के निर्माण में विधायक दृष्टि एवं विधायक विचारों की अनन्यतम भूमिका रहती है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 15-16 वर्ष की उम्र से ही वैचारिक पवित्रता के प्रति पूर्णतः सचेत थे, आज भी हैं और वे अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं—'मैंने ज्ञात-अज्ञात रूप में कभी भी किसी के अनिष्ट का चिंतन नहीं किया।' एक वैज्ञानिक की भांति उन्होंने ध्यान-योग की प्रयोगशाला में चित्तशुद्धि और भावधारा की उत्तरोत्तर विशुद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है—निरंतर प्रयोग-परीक्षण किए। आध्यात्मिक अनुसंधान की प्रक्रिया से गुजरते हुए उन्होंने प्रेक्षाध्यान विधि का आविष्कार किया, जो अध्यात्मयोग की वैज्ञानिक विधि मानी गई है। प्रेक्षाध्यान के नियमित विधिपूर्वक अभ्यास से भावधारा का परिष्कार कर विचारों/व्यवहारों को रूपांतरित किया जा सकता है। 'मन के जीते जीत', 'मैं, मेरा मन, मेरी शांति', 'कैसे सोचें', 'विचारों को बदलना सीखें'—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ये ऐसे अद्भुत ग्रंथ हैं, जो वर्तमान वैचारिक प्रदूषण की समस्या को समाहित करने में सहायक हो सकते हैं। इन ग्रंथों के अनुशीलन तथा इनमें सुझाए गए प्रयोगों के द्वारा मन-मस्तिष्क का कायाकल्प किया जा सकता है। चित्त चेतना का परिष्कार कर मानवीय सोच को सृजनात्मक बनाया जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का विचार-दर्शन मानवीय संबंधों को नया क्षितिज प्रदान करने वाला माना जाता है।

उनका अध्यात्म-दर्शन मन और विचारों को बदलने की प्रक्रिया में ही केवल नहीं अटकता, उनका ध्येय है विचार से निर्विचार एवं मन से अमन की स्थिति तक पहुंचना। 'किसने कहा मन चंचल है', 'मन का कायाकल्प', 'अमूर्त्तचिंतन', 'आभा मंडल', 'अध्यात्म विद्या'—ये उनके अध्यात्म-दर्शन के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं, जो मन की सीमा के पार प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वार उद्घाटित कर सकते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'दुनिया में विचारवान लोगों की कमी नहीं है। अनेक प्रखर चिंतक और विचारक हैं, किंतु विचार जहां विकास का अनुमापक है, वहां अनेक समस्याओं का सृजक भी है। विचार के साथ यदि निर्विचार का योग नहीं होता है, तो कोरा विचार खतरनाक भी बन

जाता है। विचार की एक सीमा है, जो इस सीमा को लांघ कर निर्विचार की स्थिति में प्रवेश पाना नहीं जानता, वह अनेक समस्याओं को उत्पन्न कर देता है और स्वयं उनमें उलझता चला जाता है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी यद्यपि स्वयं एक महान दार्शनिक, तार्किक एवं विचारक हैं, पर वे मानते हैं कि सत्य को तर्क एवं बौद्धिक व्यायाम के द्वारा उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। वह तर्कातीत है। अनुभव चेतना को जगाकर ही उसे जाना जा सकता है। प्रेक्षाध्यान की समग्र विधाओं का केंद्रीय तत्त्व आत्म साक्षात्कार ही है।

एक विरल व्यक्तित्त्व

मानवीय जीवन के तीन स्तर हैं—1. मन का स्तर 2. बुद्धि का स्तर और 3. प्रज्ञा का स्तर। मन का काम है—सोचना, चिंतन, मनन, निदिध्यासन—ये मानसिक विकास के अग्रिम सोपान हैं। बुद्धि का काम है—विवेक, निर्णयक्षमता या प्रतिभा। प्रज्ञा का अर्थ है—साक्षात्कार की चेतना, अनुभव या अतींद्रियज्ञान। इन तीनों क्षमताओं का विकास सबमें समान नहीं होता। सबमें बहुत तारतम्य रहता है। तीनों का विकास तो और भी मुश्किल है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी मनस्वी भी हैं, बुद्धिशील भी हैं और प्रज्ञावान भी हैं। ऐसा परिपूर्ण व्यक्तित्व विरल ही होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मन और मानवीय मस्तिष्क की अपार क्षमताओं को पहचाना है, जगाया है और उन्हें विकसित करने के अनेक 'गुर' भी प्रस्तुत किए हैं। मानवीय मस्तिष्क की संरचना अत्यंत जटिल और रहस्यमई है। इसे रहस्यविद् ही समझ सकते हैं। मानवशास्त्र के विशेषज्ञों के अभिमत से *मनःसंस्थान की गतिविधियों* के संचालन में मुख्यतः तीन शक्तियां काम करती हैं—जागृति, स्मृति और धृति। जागृत मन ज्ञानेंद्रियों की पटुता से इंद्रिय चेतना को विकसित करता हुआ मानवीय व्यक्तित्व को गरिमा प्रदान करता है। स्मृति के माध्यम से जन्म-जन्मांतरों से संचित ज्ञान-संपदा के भंडार का बोध होता है। धृति का अर्थ है मनोनियामिका शक्ति। इससे स्थूल मन को नियंत्रित कर मन की सूक्ष्म अवस्थाओं तक पहुंचा जा सकता है। इससे अवचेतन मन के साथ संपर्क स्थापित किया जा सकता है। इससे विचार संप्रेषण की क्षमता का विकास होता है। इस स्थिति में मनःस्थिति, परिस्थिति आदि का बोध भी सहज होने लगता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व में उक्त तीनों बिंदु स्पष्टता के साथ परिलक्षित होते हैं।

मनुष्य में असीम/अपरिमित शक्तियां भरी पड़ी हैं। उनके अस्तित्व में विश्वास करना और उन्हें प्राप्त करने की क्षमता को अर्जित कर लेना सामान्यतः बौद्धिक प्रतिभा की कसौटी के रूप में जाना जाता है। अनुभवियों का अभिमत है कि ऐसी प्रतिभा न जन्मजात उपलब्धि है, न किसी सिद्धपुरुष के आशीर्वाद/वरदान की फलश्रुति। यह न भाग्यवश मिला हुआ संयोग है और न कोई दैवीय चमत्कार। वह तो अपने अध्यवसाय और पुरुषार्थ से उपार्जित विलक्षण क्षमता है, संपदा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस बौद्धिक प्रतिभा को अपने पराक्रम और सतत अध्यवसाय/अभ्यास से इतना निखारा और उभारा कि अपनी युवावस्था में ही वे बौद्धिक जगत में समादरणीय बन गए। लेकिन केवल बौद्धिक विकास ही आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को इष्ट नहीं था। उनका लक्ष्य था प्रज्ञा का जागरण, अंतर्दृष्टि का विकास। सरल नहीं है प्रज्ञा जागरण की यात्रा। अध्यात्म के विभिन्न प्रयोगों से गुजरते हुए उन्होंने इस दुरूह मंजिल को भी उपलब्ध कर लिया। विरल होते हैं उन जैसे प्रज्ञावान व्यक्तित्व। उनकी प्रज्ञा को जगाने वाले महत्त्वपूर्ण घटक हैं :

* चेतना की जन्मजात निर्मलता, * गुरुदेवश्री तुलसी का आशीर्वाद, * गुरु के प्रति निश्छल समर्पण भाव, * स्वयं की प्रखर पुण्यवत्ता, * दृढ़ अध्यवसाय और * प्रबल पुरुषार्थ।

लगभग पांच दशक से आगम संपादन के महान अनुष्ठान के पुरोधा बनकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दर्शन और अध्यात्म जगत को जो अमूल्य ग्रंथ-रत्न प्रदान कर रहे हैं, उनमें उनकी आत्म-प्रज्ञा और निपुणप्रज्ञा के स्पष्ट दर्शन हो रहे हैं। क्योंकि निपुणप्रज्ञा के बिना आगमिक रहस्य उपलब्ध नहीं हो सकते। गुरु के प्रति विनम्रता, एकाग्रता, पुनः-पुनः अध्ययन/अनुशीलन एवं ध्यान योग के द्वारा निपुणप्रज्ञा की भूमिका प्राप्त होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस प्रज्ञामई चेतना के शिखर पर प्रतिष्ठित हैं।

अनेक व्यक्तियों के मन में प्रश्न उभरता है, एक व्यक्ति विकास की इन अमाप ऊंचाइयों का कैसे स्पर्श कर सकता है? मैं मानती हूं कि जहां निष्ठा है, वहां प्रतिष्ठा है। जहां सिद्धि है, वहां प्रसिद्धि है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कभी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि के पीछे नहीं दौड़े। निष्ठा से अपनी शक्तियों/क्षमताओं को जगाने और सृजनकर्म में लगे रहे। आज वे विश्व प्रतिष्ठित अध्यात्म गुरु के रूप में अभिनंदित हो रहे हैं। वे अपने जीवन की धातु को संयम ,और अनुशासन की आंच में निरंतर तपाते रहे, पकाते रहे। आज अगणित सिद्धियां और प्रसिद्धियां उनके पवित्र आभा-मंडल की परिक्रमा कर रही हैं। ❖

बचपन में कभी जब मैं घर की छत पर चढ़कर एक पैसे वाली छोटी-सी पतंग उड़ाता था, तो मन के भीतर एक बाल-सुलभ आकांक्षा जागती थी कि जैसे-जैसे पतंग ऊपर चढ़ती जाए, वैसे-वैसे उसका आकार चंद्रावल की तरह इतना बड़ा होता जाए कि आकाश छोटा दिखने लगे और पूरे गांव की आंखें उसे अपलक निहारने लगें। मेरी बाल-सुलभ आकांक्षा तो कभी पूरी नहीं हुई, पर वहां से मुझे व्यक्तियों, संस्थाओं, पत्रिकाओं, प्रतिष्ठानों आदि को देखने का एक प्रतिमान अवश्य मिल गया। इसी कसौटी के आधार पर यह व्यक्त करना कतई अतिशयोक्ति नहीं लगता कि देखते-देखते 'जैन भारती' का आकार इतना बड़ा हो गया है कि आकाश भले ही छोटा न लगे, पर एक विशाल पाठक वर्ग की आंखें इसे अपलक निहार रही हैं, संवादित हो रही हैं। जादू वह, जो सिर पर चढ़ कर बोले!

❑ तब पानी भला क्या करे

✍ **रामनरेश सोनी**

प्रमुख शिक्षाकर्मी; शिक्षा विचारक श्री रामनरेश सोनी (1937) हिंदी के प्रमुख कवि-निबंधकार हैं। शिक्षा के क्षेत्र में आपका योगदान कई दृष्टियों से मूल्यवान है। 'नया शिक्षक' व 'शिविरा पत्रिका' (शिक्षा विभाग, राजस्थान) के संपादन कार्य के साथ-साथ आपने कई पुस्तकों की रचना की है। जाने-माने बाल शिक्षाविद गिजुभाई के साहित्य के अनुवाद का श्रेय भी श्री सोनी को है। हाल ही में दक्षिणामूर्ति बालमंदिर, भावनगर (गुजरात) में श्री सोनी का सम्मान किया गया। जैन भारती के पाठकों के लिए श्री रामनरेश सोनी परिचित नाम है। श्री सोनी जैन भारती के सुधी पाठक भी हैं। यहां प्रस्तुत है जैन भारती पर उनकी पाठकीय टिप्पणी—

विविध विषयों और चिंतनधाराओं की नई-पुरानी पत्र-पत्रिकाओं को उलट-पुलट कर देखते रहने के आकर्षण ने ही एक दिन जयपुर प्रिंटर्स के कार्यालय में 'जैन भारती' की एक प्रति थमा दी। उन दिनों 'जैन भारती' का मुद्रण वहीं होता था और मुझे भी शिक्षा निदेशालय की 'शिविरा', 'नया शिक्षक' के मुद्रण-कार्य से जयपुर प्रिंटर्स जाना होता था। लगभग प्रतिमाह जयपुर जाते रहने और जयपुर प्रिंटर्स से संबद्धता बनाए रहने का लाभ यह मिला कि क्रमशः 'जैन भारती' के कई-कई अंक देखने का सौभाग्य मिला। जैन धर्म-दर्शन और जैन जीवन-शैली में रचे-बसे, बल्कि उसके प्रति प्रतिबद्ध विद्वानों, विचारकों, साधु-साध्वियों के नैतिक आध्यात्मिक मूल्यपरक लेखों को पढ़कर इस पत्रिका के प्रति अनुराग जागा। फिर तो प्रेस में बैठे-बैठे इस पत्रिका की विगत अंकों की फाइल मांगकर पढ़ने की उत्कंठा जागी थी। उन्हीं दिनों इसकी संपादक मुमुक्षु शांता बहन से वहीं परिचय हुआ और उनकी कृपा से 'भिक्षु चेतना' अंक की एक प्रति भी उपहार स्वरूप पढ़ने को मिली।

कई बार बड़े भाई साहब से मिलने जैन विश्व भारती लाडनूं जाना होता (जहां वे 'तुलसी-प्रज्ञा' के संपादन खंड में सेवारत थे) तो पहले-पीछे के अंक अवश्य टटोल लेता। जैन धर्म-दर्शन की प्रमुख पत्रिका तथा जैन श्वेतांबर तेरापंथ धर्म संघ का मुखपत्र होने के नाते स्वाभाविक ही था कि इस पत्रिका की संपूर्ण सामग्री जैन साहित्य, जैन चिंतनधारा, जैन पूर्वाचार्यों एवं जैन मुनियों के विशिष्ट योगदान, उत्सव-पर्वों, रोजमर्रा के आचार-विचार एवं ध्यान-पूजा की विधियों आदि से संबद्ध हो। जिस धर्म का ढाई-हजार वर्षों से अधिक का त्याग-तप का सुदीर्घ समृद्ध इतिहास हो, और जो जीवंत धर्म हो, देश-देशांतर में जिसके अनुयायी लाखों की तादाद में रहते हुए

प्रतिपल जिसे जी रहे हों, भगवान आदिनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर और बाद के आचार्यों के वर्षों की साधना से प्राप्त जीवनानुभवों से अपने जीवन और समाज को अनुशासित-संस्कारित कर रहे हों, उनसे निरंतर संवादित रहने, सूचनाओं एवं निर्देशों का आदान-प्रदान करने के लिए 'जैन भारती' जैसी जीवंत पत्रिका की निर्विवाद आवश्यकता है, और बनी रहेगी।

'जैन भारती' के मुखपृष्ठ उन दिनों प्रायः परंपरागत शैली में ही छपते थे, जो अन्य साहित्यिक, वाणिज्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों की पत्रिकाओं, स्मारिकाओं, विवरणिकाओं, प्रतिवदेनों की भांति कमर्शियल आर्ट या आधुनिक डिजाइनिंग बोध के स्पर्श से भिन्नता लिए हुए, अपने पाठकों की भावनाओं को संपोषित करने, अभिप्रेरित या उत्प्रेरित-शिक्षित करने की दृष्टि से उपयोगी थे, पर जहां तक भीतर के पृष्ठों में प्रकाशित सामग्री की बात है, प्रत्येक पृष्ठ एक निश्चित उद्देश्य से अत्यंत श्रमपूर्वक तैयार किया जाता था। जैन धर्म-दर्शन के विविध सिद्धांत-सूत्रों, तीर्थंकरों द्वारा गहन साधना के उपरांत प्राकृत में लिखे युगांतरकारी विचारों और सत्यों, आगम ग्रंथों की बारीकियों के विवेचन, पूर्वाचार्यों द्वारा संघ के अनुशासन हेतु प्रदत्त निर्देशों, आत्मशुद्धि, त्याग, योग-साधना, नवकार मंत्र की व्याख्या, दीक्षा की महत्ता, जयंतियों-पर्वों-संगोष्ठियों-शिविरों के प्रतिवेदन से संबंधित सामग्री निश्चय ही संस्कारी पाठकों के लिए उपादेय लगी। युग-पुरुष आचार्यश्री तुलसी द्वारा संस्थापित अणुव्रत संबंधी लेख, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की लेखनी से प्रसूत दार्शनिक चिंतन संबंधी लेख, स्याद्वाद, अनेकांत, अपरिग्रह, कषायमुक्ति आदि ज्ञान-मीमांसा एवं आचरण-परक लेखों को पढ़ने व समझने का अवसर मिला। कई लेखों में तत्त्वबोध को पचाकर दृष्टांतों के माध्यम से विषय को सुग्राह्य बनाने का प्रयास भी देखा था तो आगम-ग्रंथों की कहानियों और उपन्यास के अंशों का भी आस्वादन किया था।

'जैन भारती' के लगभग हर अंक में आचार्यश्री तुलसी, आचार्यश्री महाप्रज्ञ, साध्वी कनकप्रभा, मुनि मुदित कुमार, मुनि महेंद्रकुमार, मुनि बुद्धमल, श्री श्रीचंद रामपुरिया जैसे उद्भट विद्वानों के एक न एक चिंतन-प्रधान अछूते विषय पर निबंध देखे हैं; इन्हीं और ऐसे ही विचारकों को श्रेय जाता है कि इस पत्रिका में पाठकों की आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक चेतना जगाने संबंधी मौलिक रचनाएं लिखने वाले रचनाकारों की एक लंबी कतार है। सर्वाधिक प्रभावित किया साध्वी कनकप्रभा की रचनाओं ने, जहां चिंतन की दीप्ति और अभिव्यक्ति की रोचकता का मणि-कांचन सम्मिश्रण देखने में आया। आज तो वे साध्वीप्रमुखा के पद को गौरव प्रदान कर रही हैं। लगता है उन्हीं की प्रेरणा से अनेक साध्वियां लेखन की दिशा में न सिर्फ अग्रसर हैं, वरन् स्वाध्याय और विषय-प्रस्तुति की शैली में कुछ नया करने को उद्यत हैं।

यह तो हुई 'जैन भारती' के कई वर्ष पुराने अंकों के अध्ययन की मन पर पड़ी छाप की प्रस्तुति। फिर बीच में एक लंबा अंतराल आया और 'जैन-भारती' के अंकों को देखने का सिलसिला विच्छिन्न हो गया।

अचानक एक दिन नए कलेवर, नूतन दृष्टि और चिंतन की अनूठी सामग्री से युक्त श्री शुभू पटवा के संपादकत्व में प्रकाशित 'जैन भारती' का नया अंक मिला। प्रथम पृष्ठ से लेकर अंतिम पृष्ठ तक संपादक की दृष्टि का विस्तार व्याप्त था। क्यों न हो, श्री पटवा वरिष्ठ पत्रकार हैं, कथाकार व निबंधकार हैं, स्वाध्यायशील और चिंतनशील व्यक्ति हैं; शिक्षा-साहित्य-पर्यावरण-अर्थनीति संबंधी प्रतिष्ठानों के प्रकाशनों की अद्यतन तकनीकों में पारंगत हैं और एक सुरुचि-संपन्न कलात्मक सौंदर्य बोध के धनी हैं। वे पूर्वाग्रहों और कोष्ठबद्ध चिंतन से परे स्वतंत्रचेता व्यक्ति हैं, अतः जब 'बेटन' उनके हाथ में आया है तो निश्चय ही पत्रिका में परिवर्तन आना अवश्यंभावी है।

ऐसे प्रखर व्यक्तित्व द्वारा जैन श्वेतांबर तेरापंथ धर्म-संघ की इस मासिकी का संपादकत्व स्वीकार करना एक आश्चर्य है; पर आचार्यप्रवर श्री महाप्रज्ञजी की 'आज्ञा शिरोधार्य' करना उनकी बाध्यता थी। जो हो, श्री पटवा के संपादन में 'जैन भारती' नई बुलंदियां छू रही है और मुझे प्रसन्नता है कि उनके द्वारा संपादित प्रथम अंक से लेकर आज पचास वर्षों की यात्रा के प्रतीक जनवरी 2002 तक के सभी 31 अंक पिछले वर्षों में बराबर पढ़ने को मिलते रहे हैं।

बचपन में कभी जब मैं घर की छत पर चढ़कर एक पैसे वाली छोटी-सी पतंग उड़ाता था, तो मन के भीतर एक बाल-सुलभ आकांक्षा जागती थी कि जैसे-जैसे पतंग ऊपर चढ़ती जाए, वैसे-वैसे उसका आकार चंद्रावल की तरह इतना बड़ा होता जाए कि आकाश छोटा दिखने लगे और पूरे गांव की आंखें उसे अपलक निहारने लगें। मेरी बाल-सुलभ आकांक्षा तो कभी पूरी नहीं हुई, पर वहां से मुझे व्यक्तियों, संस्थाओं, पत्रिकाओं, प्रतिष्ठानों आदि को देखने

का एक प्रतिमान अवश्य मिल गया। इसी कसौटी के आधार पर यह व्यक्त करना कतई अतिशयोक्ति नहीं लगता कि देखते-देखते 'जैन भारती' का आकार इतना बड़ा हो गया है कि आकाश भले ही छोटा न लगे, पर एक विशाल पाठक वर्ग की आंखें इसे अपलक निहार रही हैं, संवादित हो रही हैं। जादू वह, जो सिर पर चढ़ कर बोले!

आइए, 'जैन भारती' के नए स्वरूप और नए परिवर्तन पर दृष्टिपात करें। मई-जुलाई, 1999 संयुक्तांक से श्री पटवा ने संपादन की बागडोर संभाली और प्रथम अंक से ही नए नीतिगत परिवर्तन करके विषयवस्तु को जिस सुचिंतित रीति तथा कलात्मक सज्जा के साथ प्रस्तुत किया है, वह स्वागतयोग्य है। धर्म संघ की पत्रिका होने के नाते इसमें नैतिक आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं को आमंत्रित किया गया है, साथ ही 'वैचारिक उन्मेष' के लिए 'खुला मंच' का खुलापन रखा गया है।

रचनाओं को तीन शीर्षकों के अंतर्गत संजोया गया हैः विमर्श, अनुभूति, और शीलन। 'विमर्श', के अंतर्गत देश-विदेश के अग्रणी और ख्यातिनाम चिंतकों के गहन चिंतन-परक, गवेषणात्मक, शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विचारों के पर्त-दर-पर्त विश्लेषण-विवेचनयुक्त लेखों को चुना गया है। 'अनुभूति' के अंतर्गत यशस्वी साहित्यकारों की कालजयी रचनाओं और मौलिक कविताओं, कहानियों के साथ ऐसे निबंधों को स्थान दिया गया है, जो रचनाकारों की स्वानुभूतियों को उजागर करते हैं और जिनका संबंध व्यापक मानवीय मूल्यों की प्रस्तुति से रहा है या जहां चिंतन की अंतर्धारा आभ्यंतरिक यात्रा की ओर ले जाती है। 'शीलन' शीर्षक के अंतर्गत शील-सदाचार की संपोषक रचनाएं हैं, बाल कहानियां और बाल मन को समझने वाली स्वच्छ दृष्टि है। संपादक ने अपनी बात कहने के लिए संपादकीय स्तंभ को 'प्रसंग' नाम देना समीचीन समझा है।

'जैन भारती' के पूर्वांकों की तुलना में इन अंकों में एक बुनियादी भिन्नता मानव जीवन के बुनियादी सरोकारों से जुड़े मुद्दों पर विश्वविख्यात एवं लब्धप्रतिष्ठ, पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों के बहुचर्चित विवेचनात्मक लेखों को अपने पाठक वर्ग के समक्ष चिंतन एवं संवाद के लिए प्रस्तुत करना रही है। इस दृष्टि से एम.एन. राय का 'विज्ञान और धर्म' (अनुवाद : नन्दकिशोर आचार्य) इतना महत्त्वपूर्ण रहा कि इस पर चर्चा को आगे बढ़ाने के क्रम में यशदेव शल्य, दयालचंद्र सोनी, विक्रम व्यास, डॉ. भगवानदास, रामधारीसिंह दिनकर, मुनि महेंद्रकुमार आदि के विचारों की प्रस्तुति को अनिवार्य समझा गया। 'विमर्श' स्तंभ के अंतर्गत ढाई वर्षों के इन अंकों में जैनेतर विद्वानों द्वारा भारतीय परंपरा, भारतीय समन्वय साधना, मानव धर्म, धर्म-निरपेक्ष नैतिकता, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति, संस्कृति की मूल्य प्रक्रिया, ज्ञान और प्रज्ञा, वेदांत–विज्ञान और सत्याग्रह, स्वतंत्रता, विस्तारशील मनोजगत, मानसिक गुलामी का शब्दकोश, शिक्षा तेजस्विनावधीतमस्तु, यतः सर्व प्रयोजन सिद्धिः स अर्थः, आत्मज्ञान क्या है? आदि विषयों-शीर्षकों से संबंधित लगभग दो दर्जन ऐसे लेख प्रकाशित किए गए हैं, जो भले ही प्रत्यक्षतः जैन धर्म-दर्शन और जीवन-शैली से संबद्ध न हों, पर जो 'जैन भारती' के संस्कारी पाठकों को भी अपना बौद्धिक क्षितिज व्यापक बनाने का बहुमूल्य अवदान देते हैं। इन लेखों के चयन के पीछे संपादक की स्वाध्याय-प्रियता तो प्रकट है ही, परंपरागत नीति से छूट लेकर प्रकाशन की साहसिकता भी दरसाती है। उनकी आकांक्षा 'जैन भारती' को वृहत्तर पाठक वर्ग की वैचारिक उन्मेष की पत्रिका बनाना है। इसीलिए उन्होंने जिन निबंधों का चयन किया है वे सिर्फ किसी संप्रदाय-विशेष के पाठकों के निमित्त ही नहीं हैं, वरन् संपूर्ण मानवता के लिए हैं। हर अंक में इतनी ठोस मननीय सामग्री है कि एक माह में तो पूरे अंक को पढ़ पाना दुष्कर प्रतीत होता है। पाठकों को प्रेरित-उद्वेलित करने के लिए लगभग प्रत्येक रचना के बारे में संपादकीय टिप्पणी दी गई है, तथा यथासंभव विद्वान लेखकों का परिचय भी दिया गया है। मुझे 'जैन भारती' की यह व्यापक दृष्टि ग्राह्य और प्रशंसनीय लगती है कि विद्वज्जनों के युगांतरकारी सोच को किसी वर्ग विशेष तक सीमित करके न रखा जाए वरन् श्रेष्ठ साहित्य के आस्वादन के लिंए उसके द्वार सभी वर्गों के पाठकों के लिए खोल दिए जाने चाहिए। ज्ञान को मुक्तहस्त लुटाया जाना चाहिए। जिस तरह एम. एन. राय, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. छगन मोहता, रामधारीसिंह दिनकर, प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद, नन्दकिशोर आचार्य, टालस्टाय, बर्टेंड रसेल आदि की रचनाएं संपूर्ण मानवता के हित-चिंतन एवं कल्याण के निमित्त हैं, उसी भांति आचार्यश्री तुलसी, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमण, साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, मुनि महेंद्रकुमार, श्रीचंद रामपुरिया, साध्वी श्रुतयशा, समणी सत्यप्रज्ञा, साध्वी गवेषणाश्री इत्यादि की रचनाएं भी संपूर्ण मानवता और सभी वर्गों के पाठकों के हित-चिंतन के लिए हैं।

'अनुभूति' स्तंभ में तो एक और नया आयाम देखने में आया है। इस स्तंभ में जैन धर्म-दर्शन से संबद्ध विषयों पर तथा जीवन-मूल्यों पर स्वानुभूत विचार-प्रस्तुति के साथ-साथ उन कविताओं-कहानियों को भी स्थान दिया गया है जो देश-विदेश के महान कथाकारों-कवियों द्वारा एक व्यापक शाश्वत संदेश तथा सत्य से साक्षात्कार कराने के लिए रची गई थीं और रची जा रही हैं। आज का पाठकवर्ग संभवतः उन कालजयी रचनाओं को भूल गया होगा या जो उसके पढ़ने में न आई होगी, उन्हें भी प्रकाशित करके सत्य से रूबरू होने का अवसर दिया गया है। इस दृष्टि से रवींद्र, शरत, जैनेंद्र, अज्ञेय, सुदर्शन, रांगेय राघव, टालस्टाय, प्रसाद, भीष्म साहनी, उषा प्रियंवदा, अमरकांत, वीरेंद्रकुमार जैन, कुंदनिका कापड़िया, ज्योत्स्ना मिलन आदि की कहानियों का प्रकाशन सप्रयोजन है। काबुलीवाला, आकाशदीप, हारजीत, एथेंस का सत्यार्थी, वापसी, गुरुजी, तोता, अहं ब्रह्मास्मि, लड़की की शादी, पत्नी, प्रेम के आंसू आदि कहानियां हर सदी की कहानियां हैं, जो अपने नाम से जानी-पढ़ी जाती हैं।

'अनुभूति' स्तंभ के लेखों में भी विषयगत वैविध्य के साथ-साथ गहन अनुभूति के प्रतिमान स्वरूप अनेक लेख बार-बार पठनीय-मननीय हैं, जिनमें से मुख्य हैं—अमृत दृष्टि, विद्याः संजीवनी मंत्र, त्यागेन एकेन् अमृतत्त्व मानुशः, नारी : राष्ट्र का भविष्य—विकास की क्रांति, लोकतंत्र : स्वतंत्रता और गरिमा, अनासक्त जीवन जीने की कला, जागें अपने लक्ष्य के प्रति, नैतिकता की मौलिक समस्याएं, परिवर्तन की अकुलाहट, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, जरूरी है दर्शन की सीमा का विस्तार, महावीर का शिक्षा दर्शन, अहिंसक समाज रचना की चुनौतियां, स्वाध्याय : चेतना विकास का सूत्र, लोकतंत्र की मर्यादाएं, स्कूलें : एलीट क्लास का षड्यंत्र, स्वाध्याय—दृष्टि का मर्म, धर्म क्या है, ब्रह्मचर्य और शरीर रचना, दर्शन और ज्ञान का संबंध, इत्यादि।

तीसरे विभाग 'शीलन' में शील-सदाचार की संपोषक रचनाओं का समावेश है, जो शिक्षा, मनोविज्ञान, नारी चेतना, स्वास्थ्य, सद्व्यवहार, सादगी, अनुशासन, आत्मिक विकास, सहयोग-सहकार, प्रदूषणमुक्त जीवन-चर्या, सुख, नेतृत्व इत्यादि विषयों पर केंद्रित व्यक्ति एवं समाज के लिए उत्कर्षोन्मुखी दृष्टि संपन्न रचनाएं हैं, जो अत्यंत श्रमपूर्वक लिखी गई हैं। बाल पाठकों के लिए भी एक न एक प्रेरक कथा यहां संजोई गई है, जिनके रचनाकारों में डॉ. जाकिर हुसैन, महात्मा भगवानदीन, आर.के. नारायण, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस से लेकर संतराम वत्स्य, मनोजदास, यादवेंद्र शर्मा चंद्र, रवींद्र कालिया, कुणाल श्रीवास्तव, सत्येन्द्र शरत् जैसे साहित्यकार सम्मिलित हैं। बाल मन को समझने और उनकी रुचियों को दिशा देने संबंधी सामग्री भी यहां विद्यमान है।

'प्रसंग' स्तंभ के अंतर्गत किसी समसामयिक या युगीन समस्या को छेड़ते हुए संपादक श्री पटवा ने उनके समाधान की दिशा में जो दृष्टि विकसित की है, वह श्लाघनीय है। जैन धर्म के तीर्थंकरों से लेकर आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा लिखी गई पुस्तकों से शाश्वत चिंतनपरक सूत्रों को उद्धृत करके संपादकीय आलेखों को अधिक प्रामाणिक एवं मननीय बनाने का प्रयास रहा है। इन आलेखों में स्वस्थ समाज रचना के लिए अणुव्रत आचार संहिता की प्रासंगिकता का प्रतिपादन है; लोकतंत्र के स्वास्थ्य के लिए अहिंसा को प्राणवायु बताते हुए प्रश्न किया गया है कि क्या अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग के रूप में हमारा लोकतंत्र खरा उतरा है? कहीं वाणी के संयम हेतु उत्तराध्ययन सूत्रकृतांग, दशवैकालिक ग्रंथों के सूत्रों की व्याख्या है तो कहीं अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव, बौद्धिक बेबसी शीर्षक के अंतर्गत ज्ञानसत्ता पर राजसत्ता और धर्मसत्ता को हावी देखकर विज्ञान के दुरुपयोग की आशंका व्यक्त की गई है तो कहीं बाजारू संस्कृति के दुष्प्रभाव का जिक्र है कि किस तरह हमारी सहजता का अपहरण हो रहा है। कहीं अनाग्रह के सिद्धांत का विवेचन है तो कहीं अमर्त्य सेन के विचारों की व्याख्या करते हुए भूख, गरीबी, मानवाधिकार, प्राकृतिक संसाधनों पर सबके साझे अधिकार का स्वर बुलंद किया गया है। कहीं लोकैषणा से मुक्त रहने, छिद्रान्वेषण को छोड़कर गुणग्राही बनने का आग्रह है तो कहीं अनेकांत की मार्मिक व्याख्या की गई है। लगभग प्रत्येक संपादकीय-आलेख चिंतन के लिए प्रेरित एवं उद्वेलित करता है।

'जैन भारती' के नए स्वरूप की एक बड़ी विशेषता इसकी विषयवस्तु की प्रस्तुति, पठनीय सामग्री का नयनाभिराम विन्यास तथा विशिष्ट सज्जा है। आप कितनी ही श्रेष्ठ सामग्री तैयार कर लें, लेकिन उसके लिए उत्प्रेरणा भी उतनी ही अनिवार्य है।

एक सूफी उक्ति पढ़ने में आई थी—'मैं पानी लेकर आया, पर किसी को प्यास नहीं थी, तब भला पानी का क्या करूं?'

यह महज एक उक्ति नहीं है, संपूर्ण धर्मशास्त्र का सार है, जीवन का उपदेश है, जागृति का संदेश है। कैसी विकट

व्यथा है इन थोड़े-से शब्दों में? बात छोटी है पर सीख बड़ी है।

मैं पानी लाया। ज्ञान का पानी, श्रद्धा का पानी, भक्ति का पानी, जीवन जीने के लिए अत्यावश्यक पानी। जिसे पीते ही मनुष्य तृप्ति का अनुभव करे। मन में यह भावना है कि इस पानी से लोगों का उपकार होगा। वे मेरे कदमों की कद्र करेंगे। पानी की आवाज सुनते ही दौड़े आएंगे। पर कोई नहीं आता। लोग सामने से निकल जाते हैं। इधर देखते भी हैं, पानी-पानी की आवाज सुनते भी हैं, पर पीने की उन्हें इच्छा नहीं है। जब प्यास ही नहीं है तो भला कौन पीने आएगा!

प्यास नहीं है अर्थात् जिज्ञासा नहीं है, जानने की उत्कंठा और प्रतीक्षा नहीं है। प्यास नहीं है अर्थात जीवन में चलने की थकान नहीं है, गरमी का त्रास नहीं है इसीलिए उसे उपाय खोजने में रुचि नहीं है। खुद आदमी को अपनी दशा का ज्ञान नहीं है, तभी तो वह पिछड़ रहा है, आगे नहीं आता।

मुझे लगता है 'जैन भारती' के संपादक इस मर्म से सुपरिचित हैं, तभी उनकी प्रत्येक अंक की सज्जा, विषयवस्तु की प्रस्तुति, पाठकों को उद्वेलित उत्प्रेरित करने हेतु रचनाओं के बारे में परिचयात्मक पृष्ठभूमि पर टिप्पणियां देना, महापुरुषों की सूक्तियों को महत्त्व देने संबंधी अनेकानेक बारीकियों पर सूक्ष्म नजर है। दार्शनिक चिंतन एवं मौलिक सृजन की इतनी उपादेय रचनाओं के आस्वादन के उपरांत निश्चय ही पाठकों के मन में कुछ भावों का उद्वेलन होता होगा और वे भी अपनी ओर से प्रतिक्रिया में कुछ सुहाता-सा या कुछ भिन्न-सा कहना चाहें तो उसके लिए भी न सिर्फ गुंजाइश रहनी चाहिए, अपितु उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

मुझे खुशी है कि जैन धर्म, दर्शन व साहित्य में रुचि लेने वाले पाठकों से भिन्न सभी वर्गों के पाठक, विशेष रूप से साहित्यकार, प्राध्यापक, शिक्षाप्रेमी, सामाजिक कार्यकर्ता स्वैच्छिक संस्थाओं से जुड़े हुए कार्मिक, विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक और पुस्तकालयों के ग्रंथपाल इस पत्रिका के अंकों का स्वयं अध्ययन करेंगे और पाठकवर्ग तक इसे अधिकाधिक पहुंचाने का प्रयास करेंगे। इस पत्रिका के दिनोंदिन उत्कर्ष की आशा के साथ संपादकजी को बहुत-बहुत शुभकामनाएं। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

संबोधन अलंकरण समारोह

पचपदरा, बाड़मेर (राजस्थान), दिनांक 17 फरवरी, 2002

जैन भारती के जनवरी 2002 के अंक में संबोधन अलंकरण से अलंकृत होने वाले वरिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं की एक सूची प्रकाशित हुई है। उसी क्रम में प्रस्तुत है अनुपूरक सूची।

अनुरोध है कि संबद्ध महानुभाव समारोह में पधारने की कृपा करें, ताकि महासभा ससम्मान 'संबोधन' अलंकरण अर्पित कर सके—

क्र.सं.	नाम	स्थान	अलंकरण
1.	श्री कन्हैयालालजी फूलफगर	लाडनूं/कोलकाता	शासनसेवी
2.	स्व. थानमलजी बैंगाणी	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
3.	स्व. भंवरलालजी बोथरा	बीकानेर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
4.	स्व. झूमरमलजी बरड़िया	नोहर/कोलकाता	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
5.	श्री मांगीलालजी चौपड़ा	पचपदरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक

कौन थे वे असंख्य जन? अधिकांश तुम जैसे युवक थे जिनमें निष्ठा थी कि आदर्श की लगन से वे किसी की ममता में ठिठकें नहीं और कृतार्थ-भाव से होम हो जाएं। तुमने इतिहास पढ़ा है। आहुति-धर्म अवश्य सत्य है। पर क्या ऐतिहासिक सत्य को भी तुम जानना न चाहोगे! और वह सत्य यह है कि वेदी पर बलि जो चाहे हुए। उस आरती का प्रसाद और पूजा का भोग मिला उनको जिनका मन यज्ञ में नहीं स्वार्थ में था। बंधुओ! अध्ययन और मनन का यही लाभ है। निरपेक्ष सत्य उससे नहीं मिलता, क्योंकि वह अंतस्थ है। वह प्रेम में से मिलता है, क्योंकि प्रेम-स्वरूप ही यज्ञ है। लेकिन अध्ययन से ऐतिहासिक सत्य प्राप्त होता है, उसके सहारे मन की रोमानी वृत्ति संयत होती है। क्रांति जैसे शब्द रोमानियत उभारकर आपको अकृतार्थता की राह न ले जाएं। इस खतरे से अध्ययन आपको बचा सकता है। इसी से मैंने अध्ययन गोष्ठी के रूप में आपसे मिलने का आग्रह रखा। अध्ययन से उस खतरे को तो आप बचाएंगे ही, पर अध्ययन का भी अपना खतरा है। वह बचाना और जरूरी है। अध्ययन मूर्तियों को तोड़ता है। तर्क की सामर्थ्य देता है और भ्रांति की शक्ति को नष्ट करता है।

❑ क्रांति-कर्म

जैनेन्द्रकुमार

गोष्ठी के बीच में ही एक युवक ने सहसा आवेश में कहा—'उपदेश नहीं, हमें क्रांति चाहिए। रोटी चाहिए। कपड़ा चाहिए। हम जीना चाहते हैं, हमें जिंदगी चाहिए।'

मालूम हुआ युवक का गला फूल आया है। आगे यदि कुछ वह कहना चाहता है तो शब्द उससे ठीक बन नहीं रहे हैं। कहकर उसने चारों ओर देखा, घबड़ा आया, और प्रतीत हुआ मानो वह जानना चाहता है कि आगे अब और क्या?

कमरे में चटाई पर कोई पच्चीस-तीस युवक बैठे थे। और एक ओर चौकी पर नीचे पैर लटकाए एक प्रौढ़वय के पुरुष बैठे थे। प्रकट था कि वहां कुछ आपसी चर्चा होती रही है।

युवक का चेहरा शब्द न पाने से भावावरुद्ध होकर लाल पड़ आया था। जैसे वह एक-ही साथ उत्तप्त और लज्जित हो। कुछ क्षण सन्नाटा रहा। युवक-मन का यह प्रक्षेप आकस्मिक था। सबको अजब लग रहा था और प्रौढ़वय पुरुष में सहानुभूति थी कि युवक की कुछ सहायता कर सकें। पर सोच न पा रहे थे कि किस प्रकार। तभी घोर असमंजस में घिरकर युवक तेजी से लपका और कमरे से बाहर हो गया।

यह सब बहुत अप्रत्याशित भाव से घटा। गोष्ठी में उपस्थित युवक वर्ग इस पर ठगा-सा रह गया। युवकों ने समय चाहा था और नगर के मान्य नागरिक हरिप्रकाशजी के घर अनुमतिपूर्वक वे लोग जमा हुए थे। युवक एक अध्ययन गोष्ठी के सदस्य थे और तत्त्वज्ञ के रूप में हरिजी की प्रतिष्ठा थी। इससे अधिक युवकों के लिए आकर्षण का विषय था अतीत। प्रसिद्धि थी कि अपनी किशोरावस्था में ही वह फांसी पाने से बाल-बाल बचे। देश-प्रेम उनमें उत्कट था और उस उत्साह में वह जो काम तब कर गए अब उन पर विस्मय होता था। आखिर जेल में उन्होंने अध्ययन में चित्त दिया। जेल से निकले तो बाल उनके सफेद थे और देश में स्वराज आ चुका था। बाहर आने पर शासकों का उन्हें सहारा मिला, कारण जेल में कांग्रेसी-सत्याग्रही उनके संपर्क में आए थे। एक छोटी-मोटी संस्था उनके आसपास हो गई और अधिकांश पठन-पाठन और लेखन-मनन में दत्तचित्त रहना उनका जारी रहा।

युवक के जाने के बाद कुछ देर अवसन्नता रही। फ़िर हरिजी ने कहा—'आप लोग अपने एक साथी के चले जाने पर ऐसे चुपचाप होकर बैठे कैसे रह गए हैं? क्या आप लोग भी यह नहीं कहना चाहेंगे कि उपदेश नहीं, क्रांति चाहिए?'

युवक चुप रह गए। अंत में एक ने कहा—'विजय तो सनकी है, महाराज। या तो चुप रहता है और बोलता है तो भड़ककर। हम इसके लिए आपसे माफी चाहते हैं।'

' हरिजी ने कहा—'लेकिन, भाई, यह तो सही है कि जहां क्रांति चाहिए वहां उपदेश देना धृष्टता है। पर बताइए मैं कर ही क्या सकता हूं। आप लोगों को क्रांति की आवश्यकता हो और उसी के लिए आप मेरे पास आए हो, और मानिए कि मैं भी क्रांति ही आपको दूं, तब भी शब्द की ही तो वह क्रांति होगी। उसको कोई उपदेश कहे तो कह सकता है। इसलिए मैं नहीं पसंद करता कि कोई जाए और कहीं से क्रांति मांगे या उपदेश मांगे। दोनों चीजें कुछ दूर की हैं। कहने-सुनने का संबंध जहां तक हो तत्काल से होना चाहिए। उससे कर्म फलता है, व्यवहार संभलता है। विद्याध्ययन के समय में जो शास्त्रीय बातें सुनना-सीखना संगत होता है, उम्र बढ़ने पर आगे वही असंगत हो जाना चाहिए। वह जानने से आगे आकर ही, करने की होती है... आपके साथी, विजय न? सही थे कि वह कर्म के लिए अधीर थे। आप लोगों में वह अधीरता क्यों नहीं है?'

एक युवक जो समक्ष था और वर्ग का प्रधान मालूम होता था, बोला—'अधीरता की बात आप हमसे न कीजिए। हम लोगों पर आरोप है कि हम जल्दी धैर्य खो देते हैं। सच भी है। पढ़ने-लिखने में और आप जैसों से सुनने-सुनाने में हम अधीरता को दबाए रखते हैं, या खेल-कूद या मौज-शौक में उसे भूले रहते हैं। नहीं तो देश की हालत आप देखते हैं। उसे सहना आसान नहीं है। राज स्वराज्य है। यानी देशी राज्य है। तो क्या इसी से सब-कुछ सहते जाना होगा? कहा जाता है कि विद्यार्थी विद्रोह करते हैं। विद्रोह हमसे न हो, इसलिए हम आप जैसों के पास आते हैं कि ऊंची और भली बातें कानों में पड़े और असंतोष तीखा न हो। आप अगर उल्टे हम जवानों को चुनौती देंगे तो क्या होगा? समाज और राज्य इससे कुछ अस्थिर ही होगा। हमें बताया जाता है कि उचित स्थिरता है, शांति है। और आप—'

'हां मैं तुम्हें वह सब नहीं कह सकता हूं। अपने को तो कहता हूं, क्योंकि मेरी अवस्था बासठ वर्ष है। जब तुम्हारी उम्र का था तो स्वयं वह नहीं सुन सकता था। तब तुम्हें वह सुनाने का अपराध भी नहीं करूंगा। यह नहीं कि जो मैंने तब किया, वह तुम अब करो। फांसी के करीब जाओ, जेल भुगतो। और वहां अध्ययन में गहरे उतरकर शांति का पाठ सीखने में लगो। लेकिन सचमुच तुम लोग अपनी जवानी को ऐसी आसानी से कैसे सहते हो? इस पर कभी-कभी मुझे सोचना पड़ता है... उसका क्या नाम था, विजय? तुम लोगों में से कोई जाकर उसे कह सकेगा कि मैं उससे मिलना चाहता हूं, क्या उसके घर आ सकता हूं?... मैं आदमी को सहने का कायल हूं, परिस्थिति के दबाव को सहते जाने का कायल नहीं हूं। वह सहिष्णुता नहीं, क्लीवता है। जो और कहता है उसे अनसुना कर दीजिए। पौरुष का अर्थ ही कुछ न रह जाए, अगर परिस्थिति को हम बस ओढ़ लिया करें और उसको अपनी लगन का बत्तर देने से चूकते रहें। वह, आपका वह साथी विकल है और मुझे यह पसंद है।'

एक नए युवक ने कहा—'परिस्थिति राज्य की ओर से बनती है। राज हमारा है। उन देशनेताओं का राज है, जिन्होंने गांधीजी से शिक्षा पाई और जीवन-भर त्याग किया। उनकी व्यवस्था में त्रुटि हो सकती है, लेकिन कुल मिलाकर उन अपने मान्य नेताओं के लिए असुविधा का कारण बनना हमारा धर्म नहीं हो सकता। लेकिन जो आप कह रहे हैं उसका अर्थ इससे उल्टा नहीं है?'

'हां, मैं सहने को युवक का धर्म नहीं कहूंगा। आदमी को ही सहा जाएगा। अन्याय को जो सहेगा वह अपने को जवान कहने में असमंजस अनुभव करेगा। महाभारत में से गीता प्राप्त हुई। कृष्ण के अवतार को सार्थकता महाभारत में मिली। कौरव क्या पांडवों के आत्मीय न थे। अनात्मीय यहां कौन है?—प्रतिकार के लिए अविनय अनिवार्य नहीं है। नेताओं की विजय यह नहीं कहती कि अपनी जवानी की आप तौहीन बरदाश्त करें। माननीय को आप माथा झुकाइए। पर, असत और अन्याय को आप मान्य करें यह किसने बतलाया है? बुजुर्गी यह बता सकती है। क्योंकि उसे जीवन की ममता प्रिय हो चलती है। और मृत्यु का भय। लेकिन, जवानी जो मौत को हथेली पर लेती और जिंदगी को निछावर करने का चाव रखती है—उससे यह नहीं कहा जा सकता।'

युवक सुनते रहे। उनके तेज रक्त को ये शब्द सुहाने-से लगे। जैसे उनकी धमनियों में उछलता रक्त इन शब्दों के यथार्थ को अपने में समाना चाहने लगा। युवकों की शांति इस समय सजीव और ग्रहणशील थी और वे उद्दीप्त और उद्‌बुद्ध प्रतीत होते थे।

क्षण होते हैं जबकि व्यक्तियों की पृथकता बीच से तिरोहित हो जाती है। सृजन के क्षण वही हैं। जो जीता है वह सब इन्हीं क्षणों में जन्म पाता है। युवकों को भान न रहा अपने अंतर का, न हरिजी को ही अपने व्यवधान की चेतना रही। एक अभिन्न आत्मता व्याप्त हो आई। हरिजी ने कहा—'क्रांति! मैं नहीं जानता क्रांति को। क्रांतियां हुई हैं

पर अंत में क्या हुआ है? फुलझड़ी-सी खिली हैं और बुझ गई हैं। अंधेरा फिर घिर आया है। जैसे क्रांति बस निरे उद्वेग की एक विभीषिका हो। नहीं, क्रांति नहीं, मैं महा क्रांति की बात करता हूं। परम क्रांति की बात करता हूं। वह राज की क्रांति नहीं है। इस खंड या उस भाग की क्रांति नहीं है। समूची और समूली क्रांति है। मैं जी रहा हूं तो क्यों जी रहा हूं? तुम सब हो, सो क्यों हो? हम तुम सब चले जाएंगे तो भी लोग किसलिए जन्मते और जीते रहेंगे? सबको बारी-बारी मौत तो उठाती जाएगी फिर भी क्यों नया जन्म जारी रहेगा? तो मैं उसी परम क्रांति की बात कर रहा हूं। तुम उसके लिए नहीं आए थे। तुम अच्छी-भली बातें सुनने आए थे। शांति की बातें और नीति की बातें। मैं भी अब तक शब्द कह रहा था। अब कहता हूं कि चरम क्रांति में ही शांति है। तुम अपने-अपने को चाहते हो। हम सभी अपने को चाहते हैं। अपने सपनों और आदर्शों में भी अपनेपन की इस चाह को हम सुरक्षित रखते हैं, बल्कि उसे विस्तार देते हैं। इसी कारण आदर्श अंत में मृग-तृष्णा रचकर रह जाते हैं, प्यास बुझा नहीं पाते। सपनों से प्यास भला कभी बुझी है कि बुझेगी। हमारे-तुम्हारे मुंह से निकलने वाला क्रांति का शब्द उसी सपने की भाषा का है। वहां सत्य का सार नहीं है, क्योंकि अहं का विस्तार है। उस छल के पीछे भागते जा सकते हैं कि जब तक मौत ही आशा की झलक के रूप में तुम्हारे पास न आ जाए। तुम जवान हो। मैं तुम्हारी उम्र में फांसी पा जाता तो अच्छा था। लेकिन, पा नहीं सका और अब तक जी गया हूं तो तुमसे कहता हूं कि समूची क्रांति से कम के फेर में पड़ने में मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकूंगा। पर तुम कम के फेर में पड़ोगे ही क्यों? क्योंकि समूची क्रांति का दर्शन तुम पा सकोगे। फिर हर रोमानी क्रांति अपना आकर्षण तुम्हारे लिए खो रहेगी। मैं पूछता हूं, तुममें कोई है जो कह सकता है कि वह अपने को पीछे और दूसरे को पहले चाहता है। तो क्रांति को जड़ की आवश्यकता है। क्रांतियां राज-क्रांतिकारियों के लिए ऐसी जगह चाहती हैं। इसी से वह झूठी पड़ जाती हैं। उनके विनाश के लिए फिर दूसरी क्रांति को आना पड़ता है। समय-समय पर संगठित अहंताएं यह चक्कर रचा करती हैं। फिर वहां शक्ति हो कैसे सकती है! कारण वहां प्रेम नहीं स्वार्थ है, यज्ञ नहीं लोभ है। तुम लोग जवान हो। इससे कोई भी जब पुकार देता है 'आओ, यह बलिवेदी है। जीवन की आहुति देने का साहस रखने वालो, आओ।' तब तुम तरुण लोग अपना आहुति-धर्म पहचानते और बलिदान के लिए उद्यत चल पड़ते हो। लेकिन, मैं तुम्हें कहता हूं कि बलि की वेदियां बाहर जितनी रची जाती हैं, झूठ होती हैं। देश के नाम पर, धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, अन्यान्य नामों पर अनेकानेक वेदियों की रचना हुई हैं और असंख्य जनों के शोणित का वहां तर्पण होता रहा है। कौन थे वे असंख्य जन? अधिकांश तुम जैसे युवक थे जिनमें निष्ठा थी कि आदर्श की लगन से वे किसी की ममता में ठिठकें नहीं और कृतार्थ-भाव से होम हो जाएं। तुमने इतिहास पढ़ा है। आहुति-धर्म अवश्य सत्य है। पर क्या ऐतिहासिक सत्य को भी तुम जानना न चाहोगे! और वह सत्य यह है कि वेदी पर बलि जो चाहे हुए। उस आरती का प्रसाद और पूजा का भोग मिला उनको जिनका मन यज्ञ में नहीं स्वार्थ में था। बंधुओ! अध्ययन और मनन का यही लाभ है। निरपेक्ष सत्य उससे नहीं मिलता, क्योंकि वह अंतस्थ है। वह प्रेम में से मिलता है, क्योंकि प्रेम-स्वरूप ही यज्ञ है। लेकिन अध्ययन से ऐतिहासिक सत्य प्राप्त होता है, उसके सहारे मन की रोमानी वृत्ति संयत होती है। क्रांति जैसे शब्द रोमानियत उभारकर आपको अकृतार्थता की राह न ले जाएं। इस खतरे से अध्ययन आपको बचा सकता है। इसी से मैंने अध्ययन गोष्ठी के रूप में आपसे मिलने का आग्रह रखा। अध्ययन से उस खतरे को तो आप बचाएंगे ही, पर अध्ययन का भी अपना खतरा है। वह बचाना और जरूरी है। अध्ययन मूर्तियों को तोड़ता है। तर्क की सामर्थ्य देता है और भ्रांति की शक्ति को नष्ट करता है। पर, याद रखना होगा कि आदर्श की मूर्तियां यदि सब अहंकृत हैं, तब एक मूर्ति है जो अहंकृत नहीं है बल्कि अहं के विसर्जन में से, प्रेम में से, उसकी सृष्टि है। वह मूर्ति है स्वयं मानव। सच यह कि नर सगुण नारायण हैं। तो मानव व्यक्ति वह वेदी है जो सृष्टि-कर्ता ने स्वयं ही आदिकाल से आपके समक्ष उपस्थित की है। आपका पड़ोसी आपके लिए वह परीक्षा है, साधना है। परम क्रांति आप मुझसे सुनिए, इसमें है कि पड़ोसी को आप अपने से पहले मानें। लोग समाज कहते हैं, देश कहते हैं। समाज और देश का आरंभ पड़ोसी से है। अन्यथा देश-समाज भ्रांत धारणाएं हैं और वे कहीं हैं ही नहीं। सब अपने को लेकर पैदा होते हैं। पशु भी स्वत्व लेकर जन्मता है। मनुष्य ही है जो परिवार में और समाज में जन्म लेता है। यानी स्वत्व को ही लेकर वह नहीं जी सकता। आरंभ से ही परत्व के साथ नाता बिठाकर जीना उसे सीखना होता है। स्वत्व-परत्व में एकता लाता है वही है आत्म। इस आत्मता के साथ, उसी आधार पर, जीना, सच पूछो तो क्रांतिकारी जीवन है। वही सत् जीवन है। मानवता उसी में सिद्ध है। आदर्श को हम पैदा करते हैं। पड़ोसी हमें

शेष पृष्ठ 54 पर

अशोक वाजपेयी की कविताएं

•

मेरी प्रार्थना लौट आती है
मेरे साथ
जैसे मेरा दुख।

मैं न उसे धूप के पास छोड़ पाता हूं
न बूढ़े भिखारी के पास
न पड़ोस के हमेशा खिलखिलाते बच्चे के पास :
मेरी प्रार्थना लौट आती है।

मेरी प्रार्थना का कोई समय नहीं है;
उसके मांगे कोई अभय नहीं है।

मेरी प्रार्थना के लिए कोई जगह नहीं है :
देवालय में टिक नहीं सकती,
शब्दों के भूगोल में उसका ठौर नहीं।

प्रार्थना में दुख ऐसा जुड़ा है
जैसे वही उसका विन्यास हो।

देवता जब आएगा हिसाब करने किसी दिन
उसके लेखे-जोखे में मेरी प्रार्थना नहीं होगी
वह मेरे पास मेरे दुख की तरह
पहले ही लौट आई होगी।

•

जीवन इतना तो दिया होता
फिर से सीखते ककहरा
और अपनी लिपि को अभ्यास कर सुघर बना पाते;
एक बार आंसुओं-फूलों-जख्मों से प्रणयनिवेदन करते
बजाय शब्दों के;
जो रास्ते अभी तक छूटे हुए हैं
उन्हें आजमाकर देखते कि क्या हासिल है;
एक पड़ोस चुनकर फिर कहीं और न भटकते;
दूसरे किस्म के सच खोजते;
नई रकम के धोखे खाते;
दुनिया को किसी नए मोड़ से देखते और
इसकी ताईद करते कि वह फिर भी सुंदर और असह्य है;
अपने पोते की पहली पुस्तक के ताजे पृष्ठों पर
किसी साफ नोंकदार पेंसिल से
टिप्पणियां लिख सकते :
चाहते तो फिर एक जीवन शुरू कर सकते
बिना इस जीवन के समाप्त हुए।

•

क्या मैं ऐसी प्रार्थना कर सकता हूं
जिसमें तुम्हारी महिमा का बखान
तुम्हारा गुणगान
सृष्टि रचने, पृथ्वी-सूर्य-नक्षत्र गढ़ने के
तुम्हारे पराक्रम की स्तुति
तुम्हारी लीला, तुम्हारे अजर-अमर होने का उल्लेख न हो?

क्या मैं ऐसी प्रार्थना कर सकता हूं
जिसमें तुमसे
तुम्हारी दया और करुणा से
तुम्हारे उदार क्षमाशील चरित से
अपने लिए किसी के लिए कुछ न मांगूं?

क्या मैं ऐसी प्रार्थना कर सकता हूं
जिसमें शब्द न हो कोई—
न स्वर, न आवाज :
न छटपटाहट, न आहट, न चीख—
न कातरता, न समर्पण, न आत्मविस्मृति?

क्या मैं ऐसी प्रार्थना कर सकता हूं
जो बच्चों की हंसी जैसी खिलखिलाहट हो,
सुदूर वनप्रांतर में बहते निर्झर की तरह
स्वच्छ और निर्लक्ष्य हो।
—जो फिर भी किसी और जगह नहीं
इसी संसार में प्रेम और सुंदरता को नष्ट करते
समय का प्रतिरोध हो?

•

इतना-सा वरदान तो दिया होता
कि बिना लज्जित अनुभव किए
प्रार्थना में अपना सिर झुका नहीं
ऊपर उठा सकता।

❖❖

शीलन

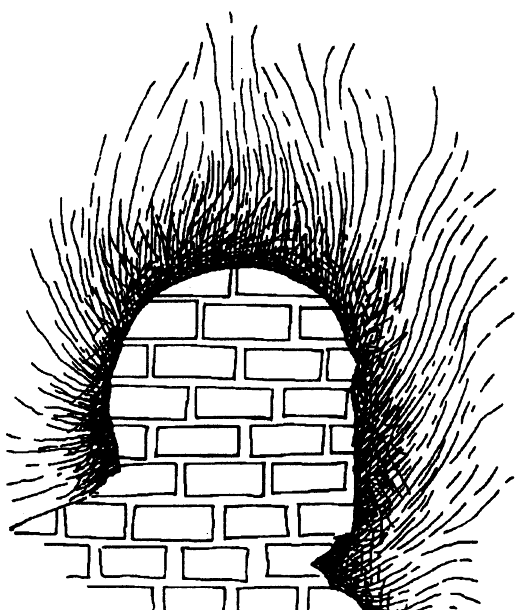

ब्रह्म मनुष्य के अंतरतम में निवास करता है और उसे विनष्ट नहीं किया जा सकता। यह आंतरिक ज्योति है, एक छिपा हुआ साक्षी, जो सदा बना रहता है और जो जन्म-जन्मांतर में अनश्वर है। उसे मृत्यु, जरा या दोष छू नहीं सकते। यह जीव का, जो आत्मिक व्यष्टि है, मूल तत्त्व है। जीव परिवर्तित होता है और जन्म-जन्मांतर में उन्नति करता जाता है और जब आत्मा का ब्रह्म के साथ पूर्ण एकत्व स्थापित हो जाता है, तब वह उस आत्मिक अवस्था में पहुंच जाता है, जो उसकी भवितव्यता है; और जब तक वह दशा नहीं आती, तब तक वह जन्म और मरण के फेर में पड़ा रहता है।

—डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्

साधना के क्षेत्र में व्यक्ति को अपने ही पैरों से चलना होता है, अपने स्नेह और बाती से उसे प्रज्वलित होना होता है। यही पुरुषार्थ व्यक्ति को उसका भाग्यविधाता बनाता है। दूसरों के पुरुषार्थ से किसी को कोई फल मिला हो, अथवा दूसरों के भाग्य से कोई फला हो—यह मात्र एक कल्पना ही हो सकती है। इस दुनिया में जितने भी महापुरुष हुए, उन्होंने किसी न किसी रूप में अपने जीवन की पोथी को पढ़ा, सुनहले पृष्ठों को भी और निकृष्टतम पृष्ठों को भी पढ़ा।

❑ महानता का दर्शन

✍ मुनि राजेन्द्रकुमार

महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा—'अपनी अल्पता का अनुभव करना अपने आपको महान बनाने का दर्शन है।'

इस वाक्य में एक चिरंतन सचाई का दर्शन और स्पर्शन है। सत्य को 'सत्य' जानना एक बात है, उसे जीना और जीवन-व्यवहार में उतारना दूसरी बात है और अत्यंत दुष्कर है। ऐसे व्यक्ति विरल ही होते हैं, जो अपनी अल्पता का अनुभव कर स्वयं को परिमार्जित करने का प्रयत्न करते हैं। सत्य को बहुत बार दोहराया भी जाता है, सुना भी जाता है, पर वह आचरण में नहीं उतर पाता। कभी-कभी तो सत्य-आदर्शों का बखान करने वाला, सत्य की दुहाई देने वाला व्यक्ति भी स्वयं सत्य से विमुख होता देखा जा सकता है।

अपने-आपमें छोटा होना अथवा किसी में कमियां होना बुरा नहीं है, बुरा है बड़प्पन की ओट में अपनी कमियों को छिपाना अथवा स्वयं को सबसे ऊंचा प्रदर्शित करना। जीवन की आस्था का केंद्रबिंदु कोई व्यक्तिविशेष नहीं होता, व्यक्ति का आदर्श ही 'श्रद्धा' का असली आधार बनता है। इस ब्रह्मांड में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो अपने-आपको संपूर्ण या अखंड व्यक्तित्वसंपन्न कह सके। तब तक व्यक्ति अधूरा, अल्पज्ञ और छोटा होता है जब तक वह वीतरागता की साधना नहीं कर लेता। वीतरागता श्रद्धा का ऐसा अभेद्य, अछेद्य कवच है जिसको अनास्था कभी भी छेदकर अथवा भेदकर प्रविष्ट नहीं हो सकती। किसी के जीवन में वीतरागता का सहस्रांशु भी उदित हो जाए तो उसके आलोक से राग-द्वेष का अंधकार स्वतः ही छंटने लग जाता है। अतः वीतराग बनना प्राणीमात्र का आदर्श होना चाहिए। यदि व्यक्ति सरागता से वीतरागता की साधना में लग जाए, आत्मा से परमात्मा की दिशा की ओर बढ़ जाए तो हर व्यक्ति वीतराग बन सकता है। साधनाकाल में स्वयं के लिए जो आदर्श होते हैं, 'साध्यकाल' में स्वयं व्यक्ति ही दूसरों के लिए आदर्श बन जाता है। यही साधना का सबसे बड़ा चमत्कार है।

साधना के क्षेत्र में व्यक्ति को अपने ही पैरों से चलना होता है, अपने स्नेह और बाती से उसे प्रज्वलित होना होता है। यही पुरुषार्थ व्यक्ति को उसका भाग्यविधाता बनाता है। दूसरों के पुरुषार्थ से किसी को कोई फल मिला हो, अथवा दूसरों के भाग्य से कोई फला हो—यह मात्र एक कल्पना ही हो सकती है। इस दुनिया में जितने भी महापुरुष हुए, उन्होंने किसी न किसी रूप में अपने जीवन की पोथी को पढ़ा, सुनहले पृष्ठों को भी और निकृष्टतम पृष्ठों को भी पढ़ा। उन महापुरुषों ने अपने चेहरे को अपने ही 'आईने' में देखा, अपनी सुरूपता को नहीं देखा, चेहरे की कुरूपता को भी देखा। जिन्होंने उन निकृष्टतम पृष्ठों को पढ़कर उनको सुनहला बनाने का प्रयत्न किया, अपनी बदरूपता को देखकर उसको साफ-सुथरा बनाने का प्रयत्न किया—वे महापुरुष महानता के शिखर तक पहुंच गए। उनके जीवन की गौरवगाथा के अनेक जीवंत उदाहरण दिए जा सकते हैं। एक उदाहरण महान दार्शनिक सुकरात का हमारे सामने है।

जैथिप्पी यूनान की प्रसिद्ध देवी मानी जाती थी। वहां के निवासियों की उस देवी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वह देवी भविष्यवाणी करके लोगों की जिज्ञासाएं समाहित किया करती थी। एक बार लोगों ने देवी से पूछा—'यूनान का सर्वाधिक ज्ञानी कौन है?' देवी ने कहा—'महान दार्शनिक सुकरात।' देवी के वचनों पर विश्वास करके लोग सुकरात को बधाई देने उसके घर पहुंचे। सुकरात ने बधाई

अस्वीकार करते हुए कहा—'शायद आप लोग भ्रम में हैं। देवी ने किसी अन्य व्यक्ति का नाम लिया होगा। भूल से आप लोग मेरा नाम समझ गए हैं। मैं तो अपना 'अज्ञान' जानता हूं, मैं भला ज्ञानी कैसे हो सकता हूं? अपनी भूल सुधार के लिए आप लोग पुनः देवी के पास जाएं।' सुकरात की बात मानकर लोग उलटे पैरों देवी के पास पहुंचे और कहा—'अंबे! सुकरात तो अपने-आपको अज्ञानी कहकर आपके ही वचनों पर प्रश्नचिह्न लगा रहा है।' '—अरे! आप लोग समझे ही नहीं। जो अपने अज्ञान को पहचानता है वही तो ज्ञानी हो सकता है, इसीलिए सुकरात ही यूनान का सबसे बड़ा ज्ञानी है।' लोगों ने देवी के वचनों को शिरोधार्य किया।

जो अपनी कमियों और बुराइयों को देखता-जानता है उसमें ही गुणों और अच्छाइयों के विकास का अवकाश रहता है।

एक बार किसी व्यक्ति ने आचार्य भीखणजी से कहा—'महाराज! अमुक व्यक्ति आपमें अवगुण निकाल रहे हैं।' स्वामीजी ने तपाक से उत्तर दिया—'वे अवगुण निकाल ही तो रहे हैं, डाल तो नहीं रहे। यह तो मेरे लिए अच्छा है। मुझे तो अपने अवगुण निकालने ही हैं। कुछ वे निकालें और कुछ मैं निकालूं। दोनों के सहयोग से काम भी सरल हो जाएगा और मेरे अवगुण भी शीघ्र निकल जाएंगे।'

अपनी कमियों को दूसरों के द्वारा उजागर किया जाना और उनको सद्-रूप में स्वीकार करना, दोषों को प्रकट करने वालों पर उत्तेजित न होकर शांत रहना ही महान बनने का दर्शन है।

हर व्यक्ति में कुछ न कुछ कमियां अवश्य होती हैं। अधिकांश व्यक्ति दूसरों की कमियों अथवा बुराइयों को ही देखते हैं, स्वयं की कमियां या अवगुण दिखाई ही नहीं देते। पर को देखने वाला व्यक्ति—मैं कहां हूं, यह नहीं देख पाता, उसे अपना जरा भी भान नहीं होता। प्रकृति की यह कैसी विचित्रता है कि दूसरों के राई के समान अवगुण भी पर्वत के समान लगते हैं और स्वयं के पर्वत के समान अवगुण भी राई सम प्रतीत नहीं होते। यह दृष्टि-विपर्यय अथवा छिद्रान्वेषी मनोवृत्ति स्वयं व्यक्ति के लिए घातक होती है।

एक बार किसी गुरु ने अपने शिष्य की सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए उसे उपहारस्वरूप एक छड़ी दी। शिष्य ने पूछा—'इसमें क्या विशेषता है?' गुरु ने बताया—'यह छड़ी दूसरों की कमियों को देखने का आईना है। तुम जिसके सामने इस छड़ी को घुमाओगे—उसके अवगुण तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएंगे।' शिष्य जरा अविनीत था। उसे गुरु द्वारा छड़ी का उपहार क्या मिला—मानो एक खिलौना ही मिल गया। वह उसका दुरुपयोग करने लगा। जो भी कोई गुरु के उपपात में आता तो शिष्य उस छड़ी के द्वारा सामने वाले व्यक्ति की कमियां निकालकर उसे लज्जित करने का प्रयत्न करता। इसी उपक्रम में एक बार शिष्य के मन में आया कि क्यों न मैं अपने गुरु की कमियों को भी पकड़ूं। मेरी कमियां तो वे बताते ही रहते हैं, जरा उनकी कमियों का भी तो पता चले। ऐसा सोचकर उसने छड़ी को गुरु के अभिमुख कर दिया। गुरु के दोष प्रकट हो गए। यह देखकर गुरु से भी रहा नहीं गया। उन्होंने शिष्य से कहा—'मेरे दोष ही केवल क्या देखते हो? जरा अपनी ओर भी छड़ी को घुमाओ, तब पता चलेगा कि किसके दोष अधिक हैं।' शिष्य ने जब अपनी ओर छड़ी को घुमाकर देखा तो उसे लगा कि गुरु के दोष तो मेरे दोष के आगे नगण्य हैं। गुरु की कमियां तो राई के समान भी नहीं हैं और मेरी कमियां तो उनसे कई गुणा अधिक हैं। शिष्य को बोधपाठ मिल गया।

अपने अवगुणों और कमियों का अवलोकन करने वाले व्यक्ति विरल ही होते हैं। जो स्वदोष-दर्शन करना नहीं जानते वे परदोष देखने के अधिकारी भी नहीं हो सकते। स्व-जीवन की पोथी को पढ़ना कठिन तो है पर असंभव जैसा कुछ नहीं। निष्कर्ष की भाषा में यही प्रतिपादित किया जा सकता है—

- अपने को पढ़ो, आगे बढ़ो।
- निज पर शासन, फिर अनुशासन।
- महानता का दर्शन, अल्पत्व का स्पर्शन। ❖

मित्रों की आलोचना करते समय यदि आपके मन को संताप पहुंचता है तो आप उनकी आलोचना करना बंद न करें और जो कहना है निर्भय होकर कहें; किंतु आपको यदि उनकी आलोचना में रस आने लगे तो कृपया तत्काल अपनी वाणी पर लगाम लगा लीजिए।

—डेल कार्नेगी

इच्छाओं का असीमित विस्तार, सांप्रदायिक उन्माद, ममत्व और बड़प्पन की स्पर्धा—ये कुछ ऐसे कारण हैं जिन्हें हिंसा के बढ़ने के लिए उत्तरदाई माना जा सकता है। इच्छाओं का संयम, सांप्रदायिक अनाग्रह, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना एवं आत्मौपम्य बुद्धि को बढ़ावा देकर इन कारणों को कमजोर बनाया जा सकता है। जब निमित्त कमजोर होंगे तो हिंसा स्वयं कमजोर होगी, उसका विस्तार अपने आप रुक जाएगा।

❑ हिंसा : कौन है उत्तरदाई

✍ साध्वी जयमाला

विश्व की वर्तमान स्थिति पर नजर डालते हैं तो एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि दिन-प्रतिदिन हिंसा बढ़ती जा रही है। नतीजा यह है कि जन-जीवन अन्याय, शोषण, धोखा-धड़ी, भ्रष्टाचार जैसी बुराइयों से ग्रस्त हो रहा है।

इन बुराइयों को मिटाने के लिए, जन-जीवन को स्वस्थ बनाने के लिए एकमात्र विकल्प अहिंसा है। इसलिए यह नितांत अपेक्षित है कि अहिंसा का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो और अहिंसा के प्रति जन-निष्ठा जागृत की जाए। हालांकि इस प्रयत्न से सभी लोग अहिंसक बन जाएंगे और हिंसा जड़मूल से समाप्त हो जाएगी, संपूर्ण बुराइयों का अंत हो जाएगा—ऐसा सोचना अतिरेक होगा।

आज सभी सोचते हैं कि हमें सुख मिले, सुख सबको प्रिय है। जीवन में पवित्रता व सात्त्विकता सब चाहते हैं, किंतु अपने सुख के लिए दूसरों का सुख लूटने की कोशिश होती रहे तो उसे सुख कैसे मिलेगा? अगर व्यक्ति अपने चिंतन को सही रखे कि जैसे मुझे दुख अप्रिय है, उसी प्रकार संसार के सभी प्राणियों को वह अप्रिय है, किसी एक को भी वह काम्य नहीं है, ऐसी स्थिति में उसका यह परम कर्तव्य बन जाता है कि वह इस बात के लिए क्षण-क्षण जागरूकता बरते कि अपने सुख के लिए दूसरे के सुख को नहीं लूटेगा, उसके सुख में बाधक नहीं बनेगा। स्वयं के लिए दूसरों के जीवन को खतरे में नहीं डालेगा। उसके प्राणों का वियोजन नहीं करेगा। यही अहिंसा की साधना है। जीवन में जो महत्त्व प्राण का है, वही महत्त्व धर्म में अहिंसा का है।

प्रश्न है कि हिंसा का इतना विस्तार क्यों हो रहा है? मेरी दृष्टि में इच्छाओं का असीमित विस्तार, सांप्रदायिक उन्माद, ममत्व और बड़प्पन की स्पर्धा—ये कुछ ऐसे कारण हैं जिन्हें हिंसा के बढ़ने के लिए उत्तरदाई माना जा सकता है। इच्छाओं का संयम, सांप्रदायिक अनाग्रह, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना एवं आत्मौपम्य बुद्धि को बढ़ावा देकर इन कारणों को कमजोर बनाया जा सकता है। जब निमित्त कमजोर होंगे तो हिंसा स्वयं कमजोर होगी, उसका विस्तार अपने आप रुक जाएगा। तभी अहिंसा की प्रतिष्ठा स्वयं बढ़ेगी और जन-जीवन में शांति का सागर उमड़ पड़ेगा। तभी अणुबम को अणुव्रत के नियमों से चुनौती मिल सकती है।

अणुव्रत आंदोलन के अंतर्गत अहिंसा के विविधमुखी विकास और प्रतिष्ठा के लिए छोटे-छोटे नियम हैं। वे व्यक्ति के स्तर पर तो उपयोगी हैं ही, सामाजिक स्तर पर भी अत्यंत उपयोगी एवं व्यवहार्य हैं। अणुव्रत द्वारा स्वस्थ समाज की परिकल्पना को मूर्त रूप मिल सकता है।

आज आदमी येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक धन बटोरने में लगा है। सत्ता और अधिकार प्राप्त करने के लिए बेतहाशा दौड़ रहा है। सम्पत्ति और सत्ता-प्राप्ति की अंधी-दौड़ ही उसे पतन के गर्त में ले जा रही है। अंतःजागृति और स्वोन्मुखता का तत्त्व लुप्तप्रायः दिखाई दे रहा है। भारतीय जनता अपने अतीत और भविष्य की प्रतिष्ठा को समझे और उसके अनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करे। संयम, सादगी व पवित्र आचरण से अपने जीवन को भावित करे। इसके लिए उसे अहिंसा को महत्त्व देना होगा।

भगवान महावीर और गौतम बुद्ध के अहिंसा और करुणा के उपदेशों का प्रभाव उनके बाद करीब पंद्रह सौ वर्षों तक प्रभावी रूप से चला। गुप्त-साम्राज्य, जो कि भारत के इतिहास में स्वर्णिम-युग कहा जाता है—वह भी इस अवधि में पनपा था। पंद्रह सौ वर्षों का इतिहास आज भी अहिंसा

की अपनी गौरव-भरी विजयगाथाएं गा रहा है। भगवान महावीर ने प्राण बंध व दास प्रथा को भी हिंसा माना है। अहिंसा को वीरों का आभूषण व प्राणीमात्र के लिए क्षेमंकर माना है। 'अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है, जैसे सभी नदी-नाले एक-एक करके समुद्र में मिल जाते हैं, उसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा धर्म में समा जाते हैं। अहिंसा एक विशाल सागर है, शेष सभी धर्म सरिता के सदृश हैं।

दूसरों की आत्मा को उत्पीड़ित करना महापाप है। जो दूसरों को उत्पीड़ित करके पश्चात्ताप नहीं करता उसे निर्दयी-हिंसक कहा जाता है। अहिंसा शब्द का अर्थ है—हिंसा न करना। इस सूक्ष्म शब्द में विशाल अर्थ समाहित है। किसी का शोषण करना, अतिरिक्त श्रम लेना, कटु शब्द बोलना, अनियमित लाभ उठाना, गलत व्यवहार करना, गाली-गलौज करना, अपमानित करना, दूसरे के अधिकार में कटौती करना—ये सभी प्रवृत्तियां हिंसा की परिधि में आती हैं। असद् चिंतन व असद् प्रवृत्तिमात्र हिंसा है।

आज मात्र जीव-हत्या करने वालों को ही हिंसक कहा जाता है, जबकि असद् प्रवृत्ति हर दिन हो रही है—उसको अहिंसक कैसे कहा जा सकता है। हमें अहिंसा की आत्मा को पकड़ना है न कि शब्दों के जाल में उलझना है। भगवान महावीर ने कहा है—'सव्वे सिंजीवियं पियं' यानी प्राणीमात्र को अपना जीवन प्रिय है। राग-द्वेष वियुक्त प्राणीमात्र के प्रति सद्भावना रखना अहिंसा है। 'अत समे मन्नेज्ज छप्पिकाए' अपनी आत्मा के समान छह जीव निकाय को समझें। प्राणीमात्र को आत्मा के तुल्य समझें।

अहिंसा का सिद्धांत आज भी उतना ही सामयिक है जितना कि पहले था। गणाधिपति तुलसी ने जैन जीवन-शैली का आयाम प्रस्तुत करते हुए कहा है—'अहिंसा का विकास करने के लिए श्रावक अनावश्यक हिंसा से बचते रहें, अपनी ओर से किसी पर आक्रमण न करें तथा आत्म-हत्या और भ्रूण-हत्या जैसे क्रूर कार्यों से दूर रहें। उनके हृदय में करुणा की चेतना का विकास हो।'

गृहस्थ जीवन में हिंसा की अपरिहार्यता है, फिर भी जैनाचार्यों ने हिंसा के अल्पीकरण का मार्ग सुझाया है। अध्यात्म के क्षेत्र में इसे एक व्यावहारिक प्रयोग माना जा सकता है। जीवन की तीन शैलियां प्रचलित हैं—अनारंभ, अल्पारंभ और महारंभ। आरंभ का अर्थ है हिंसा। विश्व की अनेक समस्याओं के प्रमुख स्रोत दो हैं—हिंसा और परिग्रह।

जीवन-यापन के लिए भी हिंसा की छूट नहीं है, लेकिन महारंभी जीवन-शैली स्वस्थ समाज के लिए काम्य नहीं हो सकती। अनारंभी जीवन-शैली सामाजिक प्राणी के लिए संभव नहीं, अतः बीच का रास्ता है। अल्पारंभ का अर्थ है—हिंसा का अल्पीकरण।

1. हिंसा के अल्पीकरण का प्रथम प्रयोग है—हिंसा का अल्पीकरण।

2. हिंसा के अल्पीकरण का दूसरा प्रयोग है—आक्रामक वृत्ति का परित्याग।

3. हिंसा के अल्पीकरण का तीसरा प्रयोग है—आत्म-हत्या का परित्याग।

4. हिंसा के अल्पीकरण का चौथा प्रयोग है—भ्रूण-हत्या का परित्याग।

हिंसा के ये सभी रूप त्याज्य माने गए हैं। अहिंसक जीवन-शैली में इन चारों बिंदुओं का बहुत महत्त्व है।

अनावश्यक हिंसा से बचने की जीवन-शैली के लिए महात्मा गांधी को आदर्श माना जा सकता है। वे प्रतिदिन दतौन करते थे। उसके लिए पूरी टहनी को तोड़ना उन्हें कभी उचित नहीं लगा। पलंग को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का प्रसंग आता तो वे उसे घसीटकर नहीं ले जाने देते, क्योंकि पलंग घसीटने से बिना मतलब किसी प्राणी की हिंसा न हो।

भ्रूण-हत्या अर्थप्रधान युग की देन है। गर्भ-जल परीक्षण की प्रक्रिया से पता लगा लिया जाता है कि गर्भ में पलने वाला शिशु नर है या मादा। भ्रूण-हत्या क्रूरताप्रधान जीवन-शैली है। कानून के अनुसार किसी मनुष्य की हत्या वैध नहीं है। एक मनुष्य का हत्यारा अपराधी कहलाता है, उस पर मुकदमा चलाए जाने का भी प्रावधान है। एक भ्रूण को मारना और एक मनुष्य को मारना—इसमें कोई अंतर नहीं है।

अहिंसा जीवन का शाश्वत मूल्य है, इसकी उपयोगिता व सार्वभौमिकता पारिवारिक व सामाजिक धरातल पर देखी जा सकती है। मानव सभ्यता और संस्कृति अहिंसा की अमिट देन हैं। जीवन का प्रत्येक पहलू अहिंसा के धरातल पर ही पल्लवित होता हुआ प्रतीत होता आया है। व्यक्ति की मानसिक शांति के लिए अहिंसा अत्यंत आवश्यक है। परस्पर का सौहार्द, भाईचारा व मैत्री का विकास तथा एक-दूसरे का सुख-दुख में सहभागी बनना सामाजिक जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी है। धर्म का प्रासाद अहिंसा की नींव पर ही खड़ा है।

भगवान महावीर के 2600वें जयंती वर्ष में संपूर्ण जैन समाज अहिंसा में निखार लाने के लिए अनावश्यक हिंसा से अवश्य बचे, अपनी जीवन-शैली को सुंदर से सुंदर बनाने का संकल्प स्वीकार करे। ❖

आखिर राजा के बूढ़े दीवान से नहीं रहा गया। साहस कर उसने एक दिन राजा से कहा, 'महाराज, आप धृष्टता क्षमा करें तो आपसे एक बात कहने की हिम्मत करूं। आप इस नवयुवक अमर को बहुत अधिक सिर चढ़ा रहे हैं। आप इसे जितना बुद्धिमान समझ रहे हैं, उतना है नहीं।'

❑ बुद्धि और विवेक

✍ सत्येन्द्र शरत्

एक था राजा। गुणों का पारखी। आदमी को देखते ही पहचान लेता कि उसमें कितना कुछ है। उसी के अनुसार वह उस आदमी से व्यवहार करता। राजा के कई विश्वासपात्र सभासदों को कई बार राजा का आचरण विचित्र लगता, किंतु राजा उनकी ओर ध्यान न देता। उसे अपनी परख पर बहुत विश्वास था। सचाई भी यह थी कि राजा की परख प्रायः सही ही निकलती थी।

एक दिन एक प्रखर नवयुवक राजा के पास आया और प्रणाम कर विनीत स्वर में बोला, 'महाराज, मुझे अपनी सेवा में ले लीजिए और जो भी काम चाहें मुझे सौंप दीजिए। मैं आपको दो बातों का विश्वास दिलाता हूं—पहली यह कि आपको मुझसे कभी शिकायत नहीं होगी और दूसरी यह कि मैं हमेशा आपके प्रति ईमानदार रहूंगा।'

राजा ने एक नजर नवयुवक को देखा और वह उन्हें जंच गया। उन्हें लगा कि एक-न-एक दिन यह नवयुवक सचमुच 'कुछ' बन जाएगा। उन्होंने तत्काल उसे अपने निजी सेवकों में रख लिया। नवयुवक को यह काम मिला कि वह राजा और राजमहल के बीच का सूत्र बना रहे।

जैसा स्वाभाविक भी था, राजा के अन्य सेवकों को इस बात से बहुत कष्ट हुआ—बहुत ही ज्यादा, किंतु राजा के सामने कुछ भी कहने की किसी की हिम्मत नहीं थी, इस कारण ऊपर से तो सब सेवक चुप रहे किंतु अंदर-ही-अंदर सब लोग सुलगने लगे।

राजा को चावलों का मांड पीने का बहुत शौक था। जिस भी सुबह महल में चावल बनता, प्रमुख रसोइया, चावल का मांड सोने के कटोरे में निकालकर उसमें हल्का नमक और थोड़े गले चावल डालकर, राजा को सूचना भिजवा देता। राजा राज-कार्य छोड़कर बीच में उठ आते और मांड पीकर फिर सभा में लौट जाते और काम करने लगते।

ऐसे ही एक दिन चावलों का गर्म मांड तैयार कर रसोइए ने राजा के इस नए सेवक अमर से कहा, 'जाकर राजा साहब को कह दो कि आकर मांड पी लें, नहीं तो ठंडा हो जाएगा और बेस्वाद हो जाएगा।'

अमर दरबार में पहुंचा तो उसने देखा कि राजा कुछ विदेशी राजदूतों से बातों में व्यस्त हैं। उन विदेशी राजदूतों के आगे यह कहना कि महाराज आकर मांड पी लें—अमर को उचित नहीं लगा। किंतु राजा को सूचना देना भी आवश्यक था, इसलिए अमर सोच में पड़ गया कि इशारे से ही सही किंतु राजा को किस तरह बताया जाए कि मांड तैयार है?

कुछ विचारकर, अमर ने साहस किया और जहां राजा विदेशी राजदूतों से बात कर रहा था वहां जाकर राजा के सामने सिर झुकाकर खड़ा हो गया।

राजा ने अमर को देख लिया। बात रोककर उससे बोले, 'क्या बात है? कुछ कहना चाहते हो?'

अमर ने कहा, 'जी हां, महाराज। निवेदन है कि धानसिंह का बेटा मांडसिंह मिलने को बुलाता है। मिलना है तो जल्दी मिलिए, नहीं तो शीतलपुरी को जाता है।'

राजा संकेत नहीं समझे। बोले, 'क्या कह रहे हो? साफ-साफ कहो।'

अमर ने इस बार राजा की ओर दृष्टि उठाकर कहा, 'महाराज! निवेदन है—धानसिंह का बेटा मांडसिंह मिलने को बुलाता है। मिलना है तो जल्दी मिलिए, नहीं तो शीतलपुरी को जाता है।'

राजा सोच में पड़ गए। बोले, 'धानसिंह!...और उसका बेटा मांडसिंह। शीतलपुरी!...कौन है यह?' सहसा उनकी समझ में बात आ गई। प्रसन्नता से बोले, 'अच्छा...! वो...धानसिंह के बेटे मांडसिंह!...अच्छा-अच्छा... उन्हें रुकने को कहो। हम अभी आते हैं उनसे मिलने।'

अमर ने 'जी, बहुत अच्छा!' कहा और रसोईघर की ओर बढ़ गया।

महाराजा ने यह कहकर कि मेरे बचपन के मित्र का बेटा आया हुआ है, राजदूतों से कुछ देर के लिए क्षमा मांगी और गर्म मांड पीने रसोईघर में आ गए।

अमर की समझ पर महाराजा बहुत प्रसन्न हुए। उसी शाम अमर के पद और वेतन में तरक्की हो गई। उसे राज-सभा में सबसे पिछली पंक्ति में बैठने का अधिकार मिल गया। अमर की खुशी का ठिकाना न रहा, लेकिन बाकी सारे लोग ईर्ष्या से जल मरे।

कुछ ही दिन बाद राज-सभा में एक बहुरूपी आया। वह सब प्रदेशों के कपड़े पहनता था और सब प्रदेशों की बोलियां इतने अच्छे ढंग से बोलता था कि यह कहना मुश्किल था कि वह किस प्रदेश का रहने वाला है। वह नेपाली बोलता तो गोरखा लगता। कश्मीरी बोलता तो लगता, श्रीनगर-गुलमर्ग का रहने वाला है। मराठी बोलता तो लगता, पुणे या कोल्हापुर का है। उड़िया बोलता तो यही आभास देता कि बचपन से जगन्नाथपुरी में ही रहा है। ब्रजभाषा बोलता तो जो भी सुनता दावे के साथ कहता, यह तो वृंदावन-वासी है।

उस व्यक्ति ने राजा से निवेदन किया—'महाराज, यदि आपकी सभा का कोई भी व्यक्ति यह बता दे कि मैं पंजाबी हूं या राजस्थानी या तमिल या कन्नड़ या बंगाली, तो मैं अपनी चोटी कटवा दूंगा। यदि कोई नहीं बता सका तो आपकी सभा में जितने व्यक्ति हैं, हर एक से एक-एक स्वर्ण-मुहर लूंगा।'

राजा को इस कौतुक में बड़ा आनंद आया। बोले, 'हां, हमें यह स्वीकार है। अच्छा सभासदो, बताओ, ये सज्जन किस प्रदेश के हैं?'

सभा में कानाफूसी होने लगी। कोई भी व्यक्ति निश्चित रूप से नहीं बता सका कि यह व्यक्ति किस प्रदेश का है? सब लोग आपस में ही फुसफुसाते रहे।

तभी अमर उठ खड़ा हुआ और बोला, 'महाराज, बहुरूपी महाशय हमें एक दिन का समय दे दें तो बहुत अच्छा होगा। मैं कल दिन में निश्चित रूप से बतला दूंगा कि ये किस प्रदेश के निवासी हैं।'

बहुरूपी ने बड़ी खुशी से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उसे लगा, यह अनुभवहीन नौजवान क्या खाकर बताएगा कि मैं कहां का रहने वाला हूं। यह तो यह, इससे अच्छे नहीं बता सकते। फिर बेचारा यह किस खेत की मूली है?

अगले दिन जब बहुरूपी सभा में आया तो उसका चेहरा उतरा हुआ था और अमर का चेहरा खिला हुआ था।

राजा के सभा में आने और सिंहासन पर बैठ जाने के पश्चात् अमर उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला, 'महाराज की जय हो। आपके आशीर्वाद से मैंने जान लिया कि बहुरूपी किस प्रदेश के हैं। महाराज, यह गुजराती हैं। आप इनसे भी पूछ लीजिए कि मैंने ठीक बताया है या नहीं?'

किंचित आश्चर्य के साथ राजा ने उस व्यक्ति से प्रश्न किया, 'क्या यह नवयुवक ठीक कह रहा है? क्या सचमुच तुम गुजराती हो?'

बहुरूपी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया, 'हां महाराज, यह नवयुवक ठीक कहता है। मैं गुजराती हूं।'

राजा अब अमर की ओर मुड़े और बोले, 'तुमने कैसे पता लगाया कि यह गुजराती है?'

अमर ने विनयपूर्ण स्वर में कहा, 'महाराज, यह जानना तो बहुत ही सरल है। मनुष्य कितनी भी बोलियां अधिकारपूर्वक क्यों न बोले, जब वह संकट में

होता है या सहसा उसे कोई बात याद आती है या वह ईश्वर को याद करता है तो वह सब-कुछ भूलकर अपनी ही बोली में बोल उठता है। इन महाशय के साथ भी ऐसा ही हुआ। कल रात जब ये सो रहे थे तो मैं जलती मोमबत्ती लेकर इनके कमरे में आया। मैंने मोमबत्ती तिरछी कर गर्म पिघली हुई मोम की दो-तीन बूंदें इनके पैर पर टपकाई ही थीं कि ये हड़बड़ाकर उठ बैठे और एकदम बोले, 'शूं छे?' (कौन है?) तब तक यह नींद में ही थे। एकाध वाक्य और इन्होंने इसी प्रकार अपनी बोली में बोला। सुनते ही मैं पहचान गया कि यह गुजराती बोल रहे हैं, इसलिए गुजरात के हैं।'

सारी सभा प्रसन्नता से खिल उठी। सब लोग एक-दूसरे से अमर की प्रशंसा करने लगे।

अगले ही दिन राजा ने अमर की सूझ-बूझ से प्रसन्न होकर उसे नगर-सचिव नियुक्त कर दिया। बस, अब क्या था! अमर की उन्नति होते देख लोगों की छाती पर सांप लोटने लगे। लोग दबे स्वरों में राजा की आलोचना करने लगे।

आखिर राजा के बूढ़े दीवान से नहीं रहा गया। साहस कर उसने एक दिन राजा से कहा, 'महाराज, आप धृष्टता क्षमा करें तो आपसे एक बात कहने की हिम्मत करूं। आप इस नवयुवक अमर को बहुत अधिक सिर चढ़ा रहे हैं। आप इसे जितना बुद्धिमान समझ रहे हैं, उतना है नहीं।'

'नहीं दीवान जी!' राजा ने बात काटकर कहा, 'अमर बहुत बुद्धिमान है। हमने तो पहले दिन इसे देखते ही समझ लिया था कि यह बहुत तीव्र बुद्धि, योग्य और अक्लमंद है।'

'अनुभवहीन भी तो है महाराज।' दीवान ने अपनी बात पिटते हुए देखकर बात पलट दी।

'नहीं, हम यह बात नहीं मानते। हमारा सोचना है कि बुद्धिमान व्यक्ति अनुभव का मुहताज नहीं होता। अवसर पड़ने पर वह अनुभव से नहीं, अपनी बुद्धि से, अपनी अक्ल से, कोई भी समस्या सुलझा सकता है। आप चाहें तो हम कल ही अमर की परीक्षा लेकर सिद्ध कर देंगे कि अमर के पास अक्ल है और वह उसे प्रयोग में लाकर असंभव काम संभव करना जानता है। आप ऐसा कीजिएगा कि जिन लोगों को आप बुद्धिमान समझते हैं, कल उन्हें लेकर सभा में आ जाइएगा और मुझे उनसे मिलवा दीजिएगा।'

'जो आज्ञा महाराज।' कहकर दीवानजी वापस चले गए।

अगली सुबह दीवानजी बीस व्यक्तियों को लेकर राज-सभा में उपस्थित हो गए।

राजा ने उन 'अक्लमंदों' को देखा और मुस्कराए। तब बोले, 'आप लोगों को जमीन नापने का एक-एक फीता और पांच-पांच वर्दीधारी राजकर्मचारी दिए जाते हैं। आप कर्मचारियों और फीते को लेकर नगर के अलग-अलग मुहल्लों में चले जाइए और कोई भी युक्ति लड़ाकर शाम तक एक सौ स्वर्ण-मुद्रा लेकर राजसभा में वापस आइए। यदि आप ऐसा कर सकें तो मैं आप सबको अपनी मंत्रणा-परिषद में बैठने का अधिकार दे दूंगा। आप लोगों के लिए हमने एक अधिकार-पत्र भी तैयार करवा दिया है जिस पर हमारी मुहर है और जिसमें कहा गया है कि आप राजकीय अधिकारी हैं और राजाज्ञा का पालन कर रहे हैं।'

फिर अमर की ओर मुड़कर बोले, 'अमर, तुम भी जमीन नापने का यह फीता लो और पांच राज-कर्मचारियों के साथ नगर के किसी भी मुहल्ले या बस्ती में चले जाओ और शाम तक दो सौ स्वर्ण-मुद्राएं लेकर राज-सभा में उपस्थित हो जाना।'

फिर उन सबको संबोधित कर राजा ने कहा, 'आप लोग अब जाइए। हम सूर्यास्त तक आपकी प्रतीक्षा करेंगे।'

'जो आज्ञा महाराज!' कहकर सब लोग चले गए। राजा राज्य-कार्य में व्यस्त हो गए।

शाम होने पर 'अक्लमंद' लोग एक-एक कर लौटने लगे। सबने घुमा-फिराकर, अदल-बदलकर एक ही बात कही, 'महाराज, हमने बहुत कोशिश की, लेकिन कहीं से भी हमें स्वर्ण-मुद्राएं नहीं मिलीं। किसी ने दी ही नहीं। जिससे भी हमने कहा, उसने यही कहा—पहले महाराज की लिखित आज्ञा दिखाओ कि तुम लोगों को स्वर्ण-मुद्राएं दी जाएं। इसलिए हम निराश होकर लौट आए हैं।'

राजा ने दीवान की ओर देखा और मुस्कराने लगे।

थोड़ी ही देर में अमर दरबार में उपस्थित हुआ। उसके पीछे पांच राज-कर्मचारी थे जो अपने कंधों पर एक-एक भारी बोरी लादे हुए थे। अमर के आदेश पर उन कर्मचारियों ने वे बोरियां कंधों से उतारीं और महाराज के चरणों में रख दीं।

तब अमर ने आगे बढ़कर महाराज को प्रणाम किया और बोला, 'महाराज, आपके प्रताप से मैं दिन-भर में पांच सौ मुद्राएं एकत्र कर सका हूं जो मैं आपके चरणों पर रख रहा हूं। कृपया इन्हें स्वीकार कीजिए।'

'शाबास अमर।' राजा ने प्रसन्न होकर कहा और दीवान की ओर देखने लगे। तब सारे 'अक्लमंदों' की ओर दृष्टि दौड़ाकर अमर से कहने लगे, 'अच्छा अमर, अब हमें और सभा में उपस्थित सब व्यक्तियों को यह बताओ कि तुमने ये पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं कैसे एकत्र कीं? किसी को सताया या लूटा तो नहीं?'

'नहीं महाराज!' अमर ने कहा, 'मैं तो सपने में भी किसी को सताने या लूटने की बात नहीं सोच सकता। महाराज, ये स्वर्ण-मुद्राएं तो लोगों ने मुझे स्वयं दी हैं और सहर्ष दी हैं और यह भी कहा है कि यदि और आवश्यकता हो तो हम और मुद्राओं की भी व्यवस्था कर देंगे।'

अमर कुछ क्षण चुप रहकर फिर बोला, 'अब मैं बताता हूं कि इन स्वर्ण-मुद्राओं को एकत्र करने के लिए मैंने क्या किया?...महाराज, मैं इन वर्दीधारी राज-कर्मचारियों के साथ नगर के सबसे बड़े और घने बसे बाजार में पहुंचा और जहां नगर के प्रतिष्ठित व्यापारियों और जौहरियों की दूकानें और घर हैं वहां जाकर मैंने जमीन नापने के फीते से जमीन नापनी शुरू कर दी। मुझे ऐसा करते देख कई व्यापारी और उनके मुनीम दूकान से बाहर आ गए और मुझसे पूछने लगे—

दूकानदार : आप क्या कर रहे हैं?

मैं : जमीन की नाप कर रहा हूं। महाराज की आज्ञा है कि इस बाजार की सारी जमीन की नाप कर ली जाए।

दूकानदार : क्यों?

मैं : ये सारी दूकानें और मकान गिराए जाएंगे।

दूकानदार : क्यों?

मैं : यहां पर एक लंबी-चौड़ी नहर बनेगी। यह नहर बानगंगा से निकाली जाएगी और इससे पुराने दुर्ग के पास की ऊसर भूमि की सिंचाई कर उसे खेती-योग्य बनाया जाएगा। महाराज चाहते हैं, हमारे राज्य में कृषि का उत्पादन बढ़ाया जाए। अधिक अनाज उत्पन्न किया जाए।

दूकानदार : यह तो बहुत अच्छी बात है कि अनाज का उत्पादन बढ़ाया जाएगा, लेकिन यह नहर इस बाजार से ही क्यों निकाली जा रही है? नगर के बाहर से भी निकाली जा सकती है।

मैं : हां, बाहर से भी निकाली जा सकती है।

दूकानदार : तो फिर नगर के बाहर से क्यों नहीं निकाली जा रही है?

मैं : इसलिए कि नगर के बाहर से निकालने पर नहर बनने का खर्चा पांच गुना अधिक हो जाएगा। बाजार में से नहर निकालने पर कम खर्च आएगा क्योंकि दुर्ग तक पहुंचने के लिए यह रास्ता छोटा है।

दूकानदार : किंतु बाजार और दूकानें गिरा देने से तो हम लोगों को बहुत कठिनाई होगी।

मैं : हां, थोड़ी-बहुत कठिनाई तो अवश्य होगी, लेकिन राज्य में अन्न की उपज बढ़ाने के लिए आपको इतना त्याग तो अवश्य करना पड़ेगा।

दूकानदार : और कोई रास्ता नहीं है?

मैं : (सोचते हुए) एक रास्ता हो सकता है। नगर के बाहर से नहर निकालने पर पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं अधिक खर्च होंगी। यदि आप लोग मिल-जुलकर आपस में एकत्र कर पांच सौ मुद्राएं मुझे शाम तक दे दें तो मैं महाराज से प्रार्थना करूंगा कि वह इस प्रस्ताव पर विचार करें और यदि संभव हो तो राज्य के बाहर से ही नहर निकलवाएं, बाजार और दूकानों को इसी तरह रहने दें।

'तब तक सारी दूकानों के मालिक बाहर आ गए थे और बड़े ध्यान से मेरी बातें सुन रहे थे। कुछ देर

चुप रहकर वे आपस में खुसुर-पुसुर करने लगे। मैं उसी तरह जमीन और सड़क की नाप करता रहा।...

'कोई घंटे-भर के अंदर व्यापारी-दल के कुछ प्रमुख व्यक्ति मेरे पास आकर बोले, 'देखिए, हम लोगों ने निश्चय किया है कि हम आपस में मिल-जुलकर पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं एकत्र कर लें और आपको दे दें। यदि हमने ऐसा किया, तो आप हमें विश्वास दिला सकेंगे कि आप महाराज को इस बात के लिए राजी कर लेंगे कि वे बाजार की दूकानों को न गिराएं और नगर के बाहर से नहर निकालें?'...

'मैंने बहुत गंभीरता से कहा, आप लोग यदि शाम से पहले-पहले पांच सौ मुद्राओं का प्रबंध कर देंगे तो मैं पूरी कोशिश करूंगा कि आप लोगों की दूकानें और घर ऐसे ही बने रहें और नहर नगर के बाहर से निकाली जाए।...

'महाराज! शाम होने से दो घंटा पहले व्यापारियों ने ये पांच सौ मुद्राएं सहर्ष आपको भेंट कीं और आपको अपने प्रणाम भेजते हुए कहलवाया कि अधिक धन की आवश्यकता होने पर वे और व्यवस्था भी कर देंगे—बस, उनकी दूकान और मकान न गिराए जाएं।...

'तो महाराज, ये हैं स्वर्ण-मुद्राएं और यह है जमीन नापने का फीता। मैं आशा करता हूं कि जिस उपाय से मैंने ये मुद्राएं एकत्र की हैं, वह उपाय आपको अनुचित नहीं लगा होगा। यह भी आशा करता हूं कि मुझसे आपको बहुत अधिक निराशा नहीं होगी। जाने-अनजाने में जो गलती हुई, उसके लिए मैं आपसे क्षमा-प्रार्थी हूं।'

राजा ने आगे बढ़कर अमर को गले लगा लिया और बोले, 'हम तुम्हारी अक्लमंदी से बहुत प्रसन्न हैं अमर! हम तुम्हें कुछ इनाम देना चाहते हैं।'

फिर दीवानजी की ओर मुड़कर बोले, 'दीवानजी, यदि हम इस अक्लमंद नवयुवक को अपना एक मंत्री बना लें तो कैसा रहेगा?'

दीवानजी ने सरल निष्कपट भाव से उत्तर दिया, 'अवश्य महाराज! यह नवयुवक सचमुच ही मंत्री बनने योग्य है।'

सारी सभा करतल-ध्वनि से गूंज उठी। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

क्रांति.....पृष्ठ 41 का शेष

प्राप्त होता है। आदर्श के लिए जीने में इसलिए उतनी महिमा नहीं है जितनी पड़ोसी के लिए जीने में है। आदर्श में अहंसेवन भी हो सकता है। पड़ोसी के लिए जीने के प्रयत्न के आरंभ में ही अहं का विसर्जन आ जाता है। मैं नहीं समझता अध्ययन से आप लोग वह काम लेते होंगे—यानी उसके जोर से पड़ोसी से विमुखता प्राप्त कर लेते होंगे। आधुनिक साक्षर के साथ अधिकतर यही होता है। वह सामाजिक व राष्ट्रीय और सार्वभौम आदर्श इतने गढ़ लेता है कि पड़ोसी उनकी ओट में खो जाता है। फिर जो उन्नति और प्रगति होती है उससे सभ्यता की चकाचौंध कितनी भी बढ़ती हो, संबंधों की मधुरता और भव्यता नहीं पैदा हो पाती। फलतः संघर्ष और वैमनष्य बढ़ता ही जाता है। अध्ययन से आप और जो कुछ नष्ट कीजिए तो इष्ट है। पर मनुष्य के महत्त्व का यदि उससे नाश या ह्रास हुआ तो वह विद्या अविद्या ठहरेगी। हमारी सब मत-मान्यताएं अंत में सापेक्ष हैं। अध्ययन सम्यक् वही है जो इस अनेकांतता को हमारे अंतःकरण में प्रतिष्ठित किए बिना नहीं रहता। पर नर का मूल्य निरपेक्ष है—यह हम अगर देख पाएंगे तो धीरे-धीरे यह असंभव हो जाएगा कि सद्उद्देश्य के नाम पर हम युद्ध ठानें, खून बहाएं। मामूली क्रांति हमें बहका दिया करती है कि व्यक्ति के नाश में से समाज का संवर्धन कदाचित् सिद्ध हो सकता है। मैं आपसे कहूंगा कि मानव-समाज की सिद्धि मानवता की सिद्धि में है और किसी क्रांति का समर्थन उससे अन्यत्र नहीं हो सकता...'

युवक जैसे अधीर हो रहे थे। एक ने कहा—'यह उपदेश नहीं है?'

हरिजी बोले—'यह सब उपदेश है जो ऊपर को आता है, भीतरी मांग के उत्तर में ही नहीं जाता। इससे मैं आप पर बोझ बना, यह हो सकता है। लेकिन आपका एक साथी नाराज होकर चला गया। उस कारण मुझमें जो उभर उठा है उससे खाली मैं अपने को आपके प्रति ही कर सकता था लेकिन, अब हम इस चर्चा को आगे नहीं बढ़ाएंगे। इतने के लिए भी आपसे मुझे क्षमा मांगनी है। आप चर्चा के लिए आए थे। आगे आशा है आप वह भूल न करेंगे। क्या कोई आपमें से मुझे कल अपने उन साथी के यहां ले जा सकेंगे?'

कोई कुछ नहीं बोला। युवक असंतुष्ट जान पड़ते थे। जैसे चर्चा का सारांश उन्हें मिल न सका हो।

हरिजी हंसे। कहा—'मैंने आपको दबाए रखा। अब आप छूटेंगे और जाएंगे। बस, अपने साथी का पता दे दीजिए। मैं स्वयं ही उनका घर ढूंढ़ लूंगा।'

युवकों को यह स्वीकार न हुआ और कई मित्रों ने निर्णय किया कि कल वे साथी के साथ स्वयं हरिजी के घर जाएंगे यदि उन्हें असुविधा न हो।

हरिजी ने कहा—'नहीं, तब तो आप सभी फिर आएंगे। अनुपस्थित एक न होगा और चर्चा नहीं इस बार संग साथ जलपान करेंगे। आप सहमत न हों तो पास-पड़ोस के बंधुओं को भी शामिल कर लिया जाए। कहिए क्या राय है?'

मालूम हुआ सब सहमत हैं, यों क्रांति समाप्त हुई।

❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के नवंबर, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के नवंबर अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 अप्रैल, 2002 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम मार्च-अप्रैल, 2002 के संयुक्तांक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

1			2		3				4
			5						
						6		7	
8	9		10	11					
	12	13				14			15
16		17			18			19	
20									
			21				22		
	23								
24					25				26

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0024

नाम प्रतियोगी...उम्र............

पूरा पता...

....

....

बाएं से दाएं

1. स्तोतारमिद्दिधिषये......न पापत्वाय रासीय [4]
3. ......भारी संख्या में लोग जाने लगे [5]
5. मनुष्य जन्म से नहीं, कर्म से......बनता है [3]
6. इस जघन्यतम विकृति का......बनकर [4]
8. मगर आकाश की आंखें......हैं [2]
10. इन...... आंखों में उफनती [3]
12. प्रतिक्षण नए-......रूप धारण करता है [2]
14. अहिंसा, सत्य, अस्तेय,......, शांति, शम [2]
17. ......जीवन, वनस्पति, पशु-पक्षी इनकी बात [2]
18. पर यहीं मैं एक......रुकना चाहता [2]
19. मेरी वाणी में सत्य का......हो [2]
20. आपका इस कुत्ते से......इतना ही संबंध है [3]
21. आपका उससे चाहे जितना......हो, उसे [3]
22. इस बात को वस्तुतः......नहीं जा रहा है [3]
24. संन्यास......के द्वारा समाहित होते हैं [4]
25. किंतु वह सैंधव-......ही लाकर देगा [3]

ऊपर से नीचे

1. कषाय को कम करके संतोषरूपी......से [4]
2. पूरे कलिंग देश का......ने भ्रमण किया [4]
3. कट्टरवाद के......भी इसी से लपलपाने [2]
4. तू श्रेय मार्ग का......है [3]
7. आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों की समस्याओं को......कर [2]
9. दो प्रकार के......होते हैं—चेतन मन और [2]
11. ......को शांति का संदेश दिया जा सकता है [2]
13. वह अपने जीवन-स्तर के......में स्वास्थ्य [3]
14. सामान्य भोजन (चपाती,......, साग-सब्जी [2]
15. हम सबको......देते हुए रस ले रहे हैं [2]
16. हम समस्त ऐश्वर्यों की ओर......करते हैं [3]
18. तंत्रों में प्रकृति-......के द्वारा प्रवृत्ति [5]
19. शब्दकोश के अनुसार 'मार्जार' बिल्ली का...... [3]
21. मुनि के शरीर में अन्य कई......श्रेष्ठतम [3]
23. चोरी द्यूतक्रीड़ा, कपट और दैत्य......से [2]
26. न......कोटरसंस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाद्वलः [1]

जैन भारती पाठक पहेली - 0022

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 सा	र	मा	या	2 रो		3 म	लि	न	4 ता
ध				5 ज	6 त	न			प
7 क	हा	व	8 त		प		9 स	न्	
			ल		10 क	ल	ह		
11 ना	री		वा		र		12 ज	13 ग	
शि		14 पा	र	स		15 ज		16 म	द
ताः		ग			17 ज्ञा	न	18 दा	न	
		19 ल	ज्जा	20 वा	न		यि		21 प्र
22 त	23 प			त		24 त	त्व		ख
25 ल	ल	चा			26 मा			27 बा	र

प्रथम चयनित विजेता—मंजुदेवी बागरेचा, कोप्पल

अन्य दस चयनित विजेता

1. कुलदीप चोरड़िया, कोलकाता
2. शंकरलाल दूगड़, लुहारिया
3. सुरेशचन्द्र डी कावडिया, मुम्बई
4. गुलाबदेवी कोठारी, लाडनूं
5. पूनमचन्द बैद, गंगाशहर
6. प्रकाशचन्द गोलछा, गंगाशहर
7. गौतमचन्द हींगड़, होसकोटे
8. कमला मेहता, जबलपुर
9. तारामती सिपानी, मेंगलोर
10. तेजकरण सिपानी, मेंगलोर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

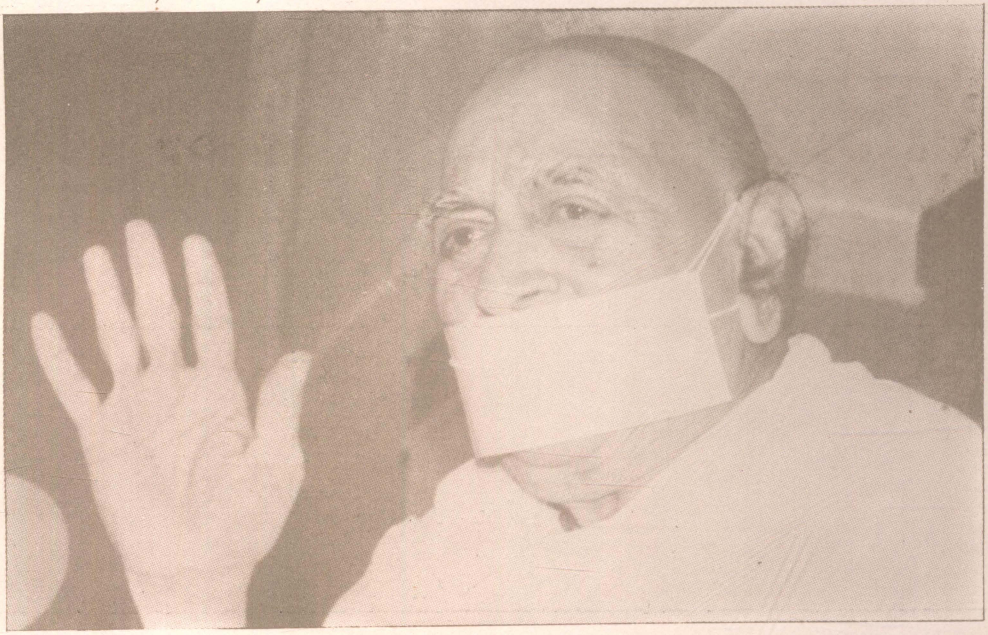

AMIT ®
A CHC A PRODUCT
Mg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, फरवरी, 2002 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर / 11/48/2000

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

With best compliments from :

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

TERAPANTH FOODS LTD.

(A FRIENDS GROUP OF COMPANY)

MANUFACTURERS AND EXPORTERS OF REFINED FREEFLOW IODISED SALT,
PURE GRADE INDUSTRIAL SALT AND ALL TYPES OF EDIBLE AND INDUSTRIAL GRADE SALTS.

REGD. OFFICE :
MAITRI BHAVAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)
Tel. : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
e-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।